श्री गुलाब वीर ग्रन्थमाला—रत्न २२ वाँ

ॐ अर्ह

कारण-संवाद

[काल, स्वभाव आदि पाँचों कारणों का अनेकान्त दृष्टि से रोचक समन्वय]



लेखक

भारतभूषण शतावधानी पं० मुनि

श्री रत्नचन्द्र जी महाराज



अनुवादक

मुनि श्री पूनमचन्द्र जी महाराज



प्रकाशक

मदनचन्द जी हिंगड

अजमेर

प्रथमावृत्ति
५०० प्रति



वीर सं० २४६६
वि० सं० १९९६

मूल्य =)

प्रकाशक
हीरालाल सुगनचन्द जैन
गोटे के थोक व्योपारी
नया बाजार, अजमेर।

प्राप्ति स्थान
धीरजलाल के० तुरखिया
ठि० जैन गुरुकुल ब्यावर (राजपूताना)

मुद्रक
दी प्रोफ़ेशनल प्रेस,
सिटी स्टेशन रोड, आगरा
जगदीशप्रसाद की कौम

दो शब्द

चतुर्विध श्री संघ में श्रमण ही सर्वदा मुख्य रहे हैं। श्रमणों ने ही संघ की मन, वचन एवं काया से जिस तरह जैसी भी सेवा हो सकी है, की है। साहित्य निर्माण में भी भूतकाल से लेकर आज तक मुनियों ने ही अथक परिश्रम उठाया है। सिद्धसेन दिवाकर, कुन्दकुन्दाचार्य, हेमचन्द्राचार्य, यशोविजयजी आदि अनेक मुनियों की कृतियाँ आज भी आपके सामने उपस्थित हैं, जिनसे साहित्य जगत् में जैन साहित्य का गौरव अनुल्लंघनीय सिद्ध हुआ है। आज भी मुनि ही साहित्य निर्माण में सबसे अग्रसर हैं। श्री शतावधानी पं० श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की साहित्यसेवा जगत् प्रसिद्ध है। बहुत अर्से से अर्धमागधी व्याकरण और कोष की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी उसकी पूर्ति करके शिक्षित समाज का जो उपकार किया है उसके लिये कोटिशः धन्यवाद है तब भी कम है। इतना ही नहीं आपकी अन्य रचनाएँ (कर्त्तव्य कौमुदी, भावना शतक आदि) भी साहित्य जगत में श्रेष्ठ स्थान पा चुकी हैं। आपके साहित्यिक दार्शनिक एवं सामाजिक लेख समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ करते थे—उन सबकी पुस्तक रूप में बहुत माँग होने से बम्बई श्री संघ ने गुजराती एवं संस्कृत के लेखों तथा व्याख्यानों का संग्रह करके "रत्नगद्यमालिका" नामक पुस्तक प्रकाशित की है। हिन्दी जनता को भी ऐसे साहित्य से बहुत फायदा हो सकता है इसी ध्येय को सामने रख कर गुजराती से यह हिन्दी अनुवाद किया गया है। आज हम आपको केवल एक ही लेख का दिग्दर्शन करा रहे हैं। इस लेख में श्री शतावधानी जी ने दार्श

निक विषय को इतना सरल बनाने की कोशिश की है कि साधारण मनुष्य भी इसको कहानी के समान पढ़ कर लाभ उठा सकता है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें तुलनात्मक दृष्टि मुख्य रक्खी गई है। इस लेख में यह बताने की कोशिश की गई है कि दुनियाँ के कार्य कैसे बना करते हैं। उनके कौन कौन कारण हैं। काल, स्वभाव, प्रारब्ध, पुरुषार्थ एवं नियति इन सबों की कितनी २ सत्ता है। ये कारण कार्य में अलग अलग कारणभूत होते हैं या सब मिल कर (शरीर के अङ्गों की तरह)। इन सब प्रश्नों का खूब सरल रीति से पाँचों की आवश्यकता सिद्ध करते हुए संवाद के रूप में दिग्दर्शन कराया है। पाठक इसको पढ़ कर अवश्य अपना ध्येय सिद्ध कर सकेंगे। एकान्तभावना से दुर्गुणों का होना स्वाभाविक है। अकेले पुरुषार्थ को मानने से अहंकार का होना स्वाभाविक है। उसी प्रकार केवल प्रारब्ध को मानने से मनुष्य आलसी एवं निरुद्यम हो जाता है और भविष्य के लिये कुछ भी नहीं कर पाता है। परन्तु जब मनुष्य सभी कारणों को न्यूनाधिक रूप से स्वीकार करेगा तब उसमें न तो प्रमाद ही रहेगा और न अभिमान। इस प्रकार दुर्गुणों से दूर रह कर अपना जीवन सफल बनाने का सदैव प्रयत्न कर सकेगा।

यदि पाठक इस अनुवाद को पढ़ कर कुछ लाभ उठायेंगे तो अनुवादक अपना श्रम सफल समझेगा।

—अनुवादक

प्रस्तावना

[गुजराती से हिन्दी]

जड जगत् और चेतन जगत् में जो कुछ भी नवीन दृश्य बना करते हैं, उनका कारण ज्ञात करने की अभिलाषा हर एक विचारशील, मनुष्य में होना स्वाभाविक है। कारण और कार्य का परस्पर व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध है। अर्थात्—जहां कारण होगा वहीं पर कार्योत्पत्ति हो सकती है। बिना कारण कार्य कदापि नहीं हो सकता। आनन्दघनजी ने अपने स्तवन में भगवान् सम्भवनाथजी की प्रार्थना करते समय ठीक ही कहा है कि—

> कारण जोगे हो कारज निपजे रे
> एमां कोई न वाद
> पण कारण विण कारज साधिये रे
> ए निज मत उन्माद—सम्भव

किसी भी इष्ट कार्य की प्रवृत्ति और अनिष्ट कार्य की निवृत्ति उसके उपादान कारण की प्रवृत्ति या निवृत्ति के बिना नहीं की जा सकती। प्राणीमात्र की इच्छा और प्रवृत्ति का उद्देश्य इष्ट फल की प्राप्ति एवं अनिष्ट फल की निवृत्ति है। सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो इष्टफल सुख और अनिष्ट फल दुःख माना जाता है, भोग्य वस्तु और भोक्ता प्राणी की मान्यता के भेद से सुख और दुःख के अगणित भेद हो सकते हैं परन्तु संग्रहनय में पुण्य फल और पाप फल में उन सबका समावेश हो जाता है। अस्तु—इस चेतन जगत् में सुख प्रत्येक प्राणी का प्रिय उपादेय है और दुःख अप्रिय हेय है। जीवन प्रिय और मृत्यु

अप्रिय, सौभाग्य प्रिय और दुर्भाग्य अप्रिय, यश प्रतिष्ठा प्रिय और अपयश अप्रिय, प्रशंसा प्रिय और निन्दा अप्रिय, धनवत्ता प्रिय और निर्धनता अप्रिय, अधिकार प्राप्ति प्रिय और अधिकार से वंचित होना अप्रिय है। हरवक्त प्रिय वस्तु की अभिलाषा हुआ करती है परन्तु मिलती है अप्रिय वस्तु और प्रिय वस्तु दूर ही रहती है। इसका क्या कारण है ऐसा प्रश्न अनेक मनुष्यों के हृदय में स्वाभाविकतया उठ खड़ा होता है। वर्तमान काल में ही यह प्रश्न नहीं उठता है किन्तु भूतकाल में भी हजारों वरसों से यह प्रश्न उद्भावित होता आया है। केवल चेतन जगत् में ही नहीं अपितु जड़ जगत् के सम्बन्ध में भी कारणवाद का—प्रश्न उपस्थित हुये बिना नहीं रहा है। नदी, पर्वत, समुद्र, चन्द्र, सूर्य आदि कैसे और किसमें उत्पन्न हुए हैं? इस प्रश्न पर धर्मशास्त्रों में अनेक स्थलों पर विचार किया गया है। 'सूयगडाङ्ग' सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्ध के प्रथम अध्ययन के तीसरे उद्देशे का पांचवां, छठी, सातवां एवं आठवां गाथा में यह जगत् किसने बनाया है, इस सम्बन्ध में पूर्व पक्ष का निरूपण किया गया है और नवमीं गाथा में उत्तर पक्ष बतलाया गया है। जिज्ञासु को यह विषय विस्तार से 'सृष्टिवाद' नामक ग्रन्थ में देख लेना चाहिए, जो कि कुछ समय बाद प्रकट होगा। इसी प्रश्न के सम्बन्ध में देववादी, ब्रह्मवादी, अण्डवादी, स्वयंभूवादी, ईश्वरवादी प्रकृतिवादी आदि अनेकवादी अपना अपना पक्ष लेकर उपस्थित हुए हैं। इनमें काल अथर्ववेदकाल से, कालवाद स्टेज पर आता है। देखिये—

'कालो भूमिमसृजत काले तपति सूर्यः।
कालेह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति॥

अथर्व संहिता काण्ड १६

अर्थ स्पष्ट है। सांख्य दर्शन में काल की जगह प्रकृति का

निरूपण किया गया है। प्रकृति का दूसरा अर्थ स्वभाव होता है अत सांख्यदर्शन में स्वभाववाद पल्लवित हुआ है। महाभारत के शान्ति पर्व में भी स्वभाववाद का अधिक विकास हुआ है। कर्मवाद भी अथर्व वेद काल से उल्लिखित हुआ है। यथा अथर्व वेद संहिता के १९ वें काण्ड में निम्नलिखित कर्मवाद का उल्लेख मिलता है।

'अजाता आसनृतवो यो धाता बृहस्पति ।
इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि क ते ज्येष्ठमुपासत ॥
तपश्चैवास्ता कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
तपाह जज्ञे कर्मणस्तत्ते ज्येष्ठमुपासत ॥

अर्थ—सृष्टि की आदि में जब वसन्त आदि ऋतुएं उत्पन्न नहीं हुई थीं, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमार आदि ऋतुचक्र के अधिपति देवता भी उत्पन्न नहीं हुए थे, उस समय उन धाता आदि देवों ने अपनी उत्पत्ति के लिये ज्येष्ठ कारण भूत किस उत्पादक की अभ्यर्थना की थी? (उत्तर) प्रलयकाल रूप महासमुद्र में जगत् स्रष्टा का पर्यालोचन रूप तप और प्राणियों के भोग्य कर्म, ये दो विद्यमान थे। उनमें भी तप की उत्पत्ति प्राणियों के भाग्य कर्म से होती है। इसलिये धाता आदि देव अपनी उत्पत्ति के लिये ज्येष्ठ कारण कर्म की ही उपासना करते हैं।

कुतइन्द्र कुत सोम कुतो अग्निरजायत ।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताऽजायत ॥
इन्द्रादिन्द्र सोमात्सोमोऽग्नेरग्निरजायत ।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत ॥

अर्थ—वर्तमान सृष्टि में इन्द्र कहाँ से हुआ? सोम कहाँ से हुआ? अग्नि किसमें से हुई? त्वष्टा कहाँ से उत्पन्न हुआ?

और धाता किस से उत्पन्न हुआ ? उत्तर—इस प्रलय से पहले जो सृष्टि थी उसमें जो इन्द्र था उसीसे वर्तमान सृष्टि का इन्द्र हुआ। पूर्व के कल्प में जो साम था उससे वर्तमान कल्प का साम हुआ। इसी प्रकार पूर्व की अग्नि से वर्तमान अग्नि पूर्व के त्वष्टा से वर्तमान का त्वष्टा, और पूर्व के धाता से वर्तमान धाता उत्पन्न हुआ। अथवा पूर्व का इन्द्र शब्द कर्मवाचक है अतः इन्द्रत्व योग्य पूर्व कर्म से इन्द्र उत्पन्न हुआ। इस ही सामान्य के विषय में भी समझ लेना चाहिए। अर्थात् प्रलय काल में भी भाग्य कर्म अवशेष रहते हैं, अतः उनके योग से वे उत्पन्न होते हैं। इस तरह अथर्व वेद काल में कर्मवाद का उदय हुआ है। यद्यपि कर्म का सम्बन्ध चेतन जगत् के साथ है जड़ जगत् के साथ नहीं तथापि चेतन एवं जड़ परस्पर ओत प्रोत मिले हुए हैं। चेतन के योग से ही शरीरादि जड़ की हानि वृद्धि और शरीर के योग से ही चेतन का जीवन मरण, लाभ अलाभ, सुयश अपयश होते हैं। ये सब कर्माधीन हैं। वस्तुतः जगत् अनादि अनन्त है अतः उसकी उत्पत्ति एवं विनाश के विषय में प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

जैन दर्शन में कर्मवाद के समान ही पुरुषार्थवाद का स्थान है। उपासकदशा सूत्र के छठे अध्ययन में प्रदर्शित कुण्डकोलिक श्रावक तथा देव का संवाद, सातवें अध्ययन में भगवान् महावीर और शकडाल का वार्तालाप तथा भगवती सूत्र के प्रथम शतक के तीसरे उद्देशे में बताई हुई कर्म बल-वीर्य और पुरुषार्थ की प्रधानता ये तीनों उदाहरण पुरुषार्थ की आवश्यकता बताने के लिये काफी हैं। पाँचवाँ नियतिवाद—भावाभाववाद गोशालक मत के आश्रित है। गोशालक का सिद्धान्त सूयगडाङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के दूसरे उद्देश में दूसरी एवं तीसरी गाथा में इस प्रकार बताया गया है —

न त मय कड दुक्ख, कग्रो अन्नकड च ए ।
सुहवा दुहवा दुक्ख, महियवा असेहिय ॥
सय कड न अन्नेहिं, वेदयन्ति पुढोजिया ।
सगइय तहातेसि, इह मगेसिमाहिय ॥

अर्थ—जीव अपने किये हुए सुख या दुःख नहीं भोगता है तो दूसरों के किये हुए कैसे भोगेगा। सुख दुःख भोगने में पुरुषार्थ का कुछ भी हिस्सा नहीं है। अर्थात् पुरुषार्थ कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। जो वस्तु शुभ या अशुभ, जिस काल में जिस स्थान में जिस प्रकार मिलने वाली होगी वह उसी प्रकार मिलेगी भावी का अन्यथा करने में कोई भी समर्थ नहीं है। अन्यत्र भी कहा है कि—

प्राप्त वा नियतिबलाश्रयेण योऽर्थ
सोऽवश्य भवति नृणा शुभोऽशुभो वा ।
भूताना महति कृतेऽपि हि प्रयत्न
नाभाव्य भवति न भाविनोऽस्ति नाश ॥ १ ॥

अर्थात्—जैसा भावी भाव होगा वैसा ही बनाव बनेगा। ये पाँचों वाद वैदिक काल से लेकर के 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' काल तक प्रवृत्त थे यह बात निम्न लिखित निषेध से मालूम हो जायगा—

काल स्वभावो नियतियदृच्छा
भूतानि यानि पुरुष इति चि त्यम् ।
सयोग एषा नत्वात्मभावात्,
आत्माप्यनीश सुखदु खहेतो ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् १ । २)

अर्थ—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा—अकस्मात् होना भूत और पुरुष ये जगदुत्पत्ति के कारण नहीं हैं। इनका सयोग

भी कारण नहीं है। सुख दुःख का हेतु भूत होने से आत्मा भी जगत का कारण नहीं है। इस चर्चा से स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय ये सब वाद प्रचलित थे। यदि ये वाद न होते तो इनके खंडन की भी जरूरत नहीं पड़ती।

पाँचों वादों का समन्वय

जब कि अन्य दर्शनों में पाँचों वादी परस्पर एक दूसरे की उत्थापना कर अपनी स्थापना करने के लिए तैयार होते हैं और एकान्तवाद का समर्थन करते हैं तब जैन दर्शन उन पाँचों वादों का अनेकान्त दृष्टि से समन्वय करता है। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के अनुसार कभी किसी एक कारण को गौण और कभी उसी कारण को मुख्य बतला कर सापेक्षतावाद का समर्थन करता है। यही नयवाद या स्याद्वाद की विशेषता है। सूयगडांग सूत्र के बारहवें समवसरण अध्ययन की टीका में क्रिया वाद के १८० भेदों में उक्त पाँच वादों का अन्तर्भाव करके अनेकान्त दृष्टि से सब कारणों का समन्वय करने वाले को सम्यग्दृष्टि सिद्ध किया गया है। तदुक्त "तदेव सर्वानपि कालादीन् कारणत्वेनाभ्युपगच्छन् सम्यग्दृष्टित्वेनाभ्युपगन्तव्य "।

> कालो सहावणियई पुव्वकय पुरिसकारणे गता।
> मिच्छत्त त चेवा (व) समासओ होंति सम्मत्त॥

(सन्मति प्रकरण तृ काण्ड गा० ५३)

अर्थ—काल, स्वभाव नियति, पूर्वकृत अदृष्ट और पुरुषार्थ ये यदि निरपेक्ष कारण हों तो मिथ्यात्व अयथार्थ है और यदि ये ही समास से—परस्पर सापेक्षपन से मिलें तो सम्यक्त्व यथार्थ है।

पाँचों वादों की उपयोगिता

गौण भाव एवं मुख्य भाव भले ही रहें किन्तु उपयोगिता एक साथ पाँचों की है। काल को कारण भूत मानने से कार्य में अधीरता नहीं होती। काल की कारणता ज्ञात न हो तो मनुष्य बीच में ही अधीर हो जाता है और कार्य के परिणाम तक पहुँचने में समर्थ न होकर बीच में ही कार्य लीला समाप्त कर देगा।

स्वभाव को जानने से विपरीत स्वभाव वाले कारण की प्रवृत्ति अपने आप रुक जायगी। तृष्णा में अशान्ति बढाने का और सन्तोष में शान्ति देने का स्वभाव जिसे ज्ञात होगा वह मनुष्य शान्ति के लिये मृगतृष्णा के प्रवाह में गोते नहीं खायेगा।

पूर्वकर्मानुसार सुख दुःख की प्राप्ति होती है, इस बात को जानकर मनुष्य दुःख के कारणों की निवृत्ति और सुखकर कारणों की प्रवृत्ति करने में संलग्न रहता है और अपना ध्येय निश्चित करता है। पूर्वकर्म भूतकाल के पुरुषार्थ का परिणाम है। भूतकाल एवं वर्तमान काल के भेद को अगर हम भूल जायें तो पूर्व कर्म तथा पुरुषार्थ में कोई भेद नहीं रह जायगा। भूत कालीन पुरुषार्थ वर्तमान में दृष्टिगोचर नहीं होता है यह मानकर दोनों को भिन्न २ समझें तो भी आवश्यकता दोनों की स्वीकार करनी पड़ेगी। इतना ही नहीं यदि पूर्व कर्म शिथिल हो तो पुरुषार्थ उसका छेदन भेदन कर सकता है अथवा अशुभ को शुभ रूप में परिणत कर देता है। शिथिल कर्म के सामने पुरुषार्थ की पूरी सत्ता स्थापित हो जाती है अतः पुरुषार्थ की प्रधानता जैन दर्शन में बतलाई गई है। निकाचित कर्मोदय रूप नियति भी अनावश्यक तो नहीं है। नियति की विपरीत परिणति देख कर भविष्य में वैसे कर्म न बाँधे जायें ऐसी प्रवृत्ति का होना ही नियतिवाद की

उपयोगिता है। अथवा निकाचित कर्मों के योग से प्राप्त हुई विपत्ति में आर्तध्यान न करना, धैर्य को न छोड़ना भी इसकी सफलता है, इस प्रकार पाँचों व्रतों की संगति एवं उपयुक्तता दिखाना एवं जीवन की उलझनों का निपटारा करना तथा एकान्तवाद के स्थान पर अनेकान्तवाद की स्थापना करना, प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य है। आशा है पाठकवृन्द इस निबन्ध से तत्त्व ग्रहण करके अपना जीवन शुद्ध मार्ग पर चलाना सीखेंगे, तब ही इतने से मैं अपना परिश्रम सफल समझता।

सुज्ञेषु किं बहुना

अजमेर
ता० १० ६ १९३६

मुनि रत्नचन्द्र



※ कारण-संवाद ※

आषाढ़ शुक्ला द्वितीया का मांगलिक दिन कई देशों में वर्ष का प्रारम्भिक दिन माना जाता है। विज्ञ नगरी के सत्यशोधक सत्यचन्द्र नरेश ने आज का दिन शास्त्रार्थ तत्त्वगवेषणा करने के लिए निश्चित किया है। प्रति वर्ष आज भिन्न भिन्न देशों के विद्वान् सत्यचन्द्र राजा की सभा में एकत्रित होकर किसी शास्त्रीय विषय पर विचार किया करें और उस पर विवेकचन्द्र मन्त्री की विवेक बुद्धि का प्रकाश पड़ा करे तथा सत्यचन्द्र राजा की सत्य शोधक वृत्ति उस विषय का निर्णय किया करे, ऐसी प्रथा इस देश में है। कितने ही वर्षों से यह प्रथा इस राज्य में चली आ रही है। इस वर्ष और आज भी बहुत से विद्वान् भिन्न भिन्न देशों से आये हुए हैं। ग्यारह बजने से पहले ही अपनी आवश्यकताओं से निवृत्त होकर जनसमुदाय राज सभा की तरफ़ आ रहा है। दर्शक, विचारक, और सहायकों से समस्त सभा व्याप्त हो गई। ठीक ग्यारह बजते ही मन्त्री के साथ राजा की गाड़ी भी आ पहुँची। गाड़ी से उतर कर राजा और मन्त्री लोगों के सत्कार के साथ साथ सभा में प्रविष्ट होकर यथा निश्चित आसन पर बैठ गए और तत्काल ही संवाद शुरु होगया।

राजा—मन्त्रीजी ! आज किस विषय पर विचार करना है ?

मन्त्री—आप श्रीमान को विदित हो कि प्रजा में आजकल प्रारब्ध और पुरुषार्थ के विषय में बहुत चर्चा चल रही है। कई कहते हैं कि सुख दुःख, जीवन मरण, लाभ अलाभ, जय पराजय, कीर्ति अपकीर्ति, सुकृत्य दुष्कृत्य और धर्म अधर्म आदि द्वन्द्व पूर्व के प्रारब्ध के अनुसार बनते हैं। तब दूसरे कहते हैं कि पुरुषार्थ द्वारा उनमें रद्दोबदल हो सकती है। कोई ऐसा कहते हैं कि जैसा भावी हो वैसा ही बना करता है, कोई कहते हैं कि वस्तु स्वभाव से ही हर एक चीज बनती है, और मिला करती है, फिर कोई कहते हैं कि हरएक वस्तु काल बल से सिद्ध होती है और हर एक क्रिया समय पर फल देती है। ऐसे भिन्न भिन्न मत होने से यह विषय जनता में बहुत चर्चास्पद हो रहा है। अतः आज तो इस विषय पर ही विचार करना तथा सत्यासत्यका निर्णय करना उचित समझा गया है।

राजा—बहुत अच्छा, इस विषय के वादी प्रतिवादी कौन कौन हैं ? उनको यहाँ बुलाओ।

मन्त्री—पंडितजी ! कहिए प्रस्तुत विषय पर कौन कौन बोलना चाहते हैं ? तथा बोलने में कौन कौन समर्थ हैं ?

पंडित—मन्त्री जी ! यहाँ सामने बैठे हुए पाँचों महाशय अपना अपना पक्ष अच्छी तरह प्रतिपादित कर सकेंगे। इनको बोलने का अवसर दिया जाय इसके पहले मैं इन पाँचों का थोड़ा सा परिचय करा देना चाहता हूँ।

पहले नम्बर के महाशय का नाम कालचन्द्र है। यह काल का प्रतिनिधि या पक्षकार है। इस सृष्टि में जो कुछ नूतन कार्य बनते हैं, जो कुछ भी कार्य होते हैं वे सब काल की सत्ता से ही होते हैं ऐसा इसका सिद्धान्त है।

दूसरे नम्बर के महाशय का नाम स्वभावचन्द्र है। यह स्वभाववादी है। अर्थात् जगत् की प्रत्येक रचना—प्रत्येक कृति उस उस वस्तु के स्वभाव से ही बना करती है ऐसा इसका मत है।

तीसरे नम्बर के महाशय का नाम कर्मचन्द्र है। यह प्रारब्धवादी है। प्रत्येक सपत्ति विपत्ति पूर्व कर्मानुसार ही मिला करती है, कर्म के हाथ म ही सब सत्ता स्थित है, ऐसा इसका मन्तव्य है।

चौथे नम्बर के महाशय का नाम उद्योगसिंह अथवा पुरुषार्थ सिंह है। यह पुरुषार्थवादी है। पुरुषार्थ अथवा पराक्रम से ही फल सिद्धि मिलती है, लक्ष्मी, विजय, कीर्ति, स्वर्ग, मोक्ष सब पुरुषार्थ से ही प्राप्त हो सकते हैं, ऐसा इसका दावा है।

आखिर में बैठे हुए इस पाँचवे महाशय का नाम नियति विजय है। यह भावीभाव का प्रतिनिधि है। "यद्भावितद्भविष्यति" यह इसका सिद्धान्त है। भावी रेखा उल्लंघन करने के लिये वा अन्यथा करने के लिये कोई समर्थ नहीं है, ऐसी इसकी मान्यता है।

ये पाँचों महाशय एक दूसरे क सिद्धान्त का खण्डित करके (तोड़कर) अपना अपना सिद्धान्त सत्य प्रमाणित करने के लिये प्रयत्न करते हैं। कई एक जगह इनके आपस म सवाद हुए हैं, परन्तु ये सब अभी तक किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं, अतएव आज अपनी अपनी दलील देकर इन्साफ प्राप्त करने की इच्छा से ये पाँचो ही यहाँ पर उपस्थित हुये हैं। आप इनको अपनी अपनी दलीलें पेश करने के लिये आज्ञा दीजिये।

मन्त्री—क्यों भाई कालचन्द्र! जो कार्य पुरुषार्थ या प्रारब्ध से होते हैं उनको तू काल से ही समुद्भव (उत्पत्ति) क्यों कहता है?

कालचन्द्र—साहिब! प्रारब्ध, पुरुषार्थ या स्वभाव कोई भी काल के बिना कार्य नहीं कर सकते। यदि किसी मनुष्य ने बहुत से सुकृत्य या दुष्कृत्य करके शुभ या अशुभ कर्मरूप प्रारब्ध का योग प्राप्त किया हो तो भी उस समय तो उसका शुभ या अशुभ फल नहीं मिल सकता।

यदि प्रारब्ध फल देने में समर्थ होता तो जब सुकृत्य या दुष्कृत्य किये जाते हैं तभी फल मिलना चाहिये, परन्तु फल तो कालान्तर में नियत समय पर ही मिलता है। अतः प्रारब्ध को भी काल ही पोषण करता है और उसको फलाभिमुख करता है। काल की शक्ति के बिना प्रारब्ध फल नहीं दे सकता है। पुरुषार्थ भी काल का अवलम्बन लेकर ही फल देता है। एक नवजात बालक को बोलना या चलना सिखाने के लिए चाहे जितना प्रयत्न या पुरुषार्थ किया जाय तो भी क्या बालक बोलना या चलना सीख जायगा? कभी नहीं। क्योंकि उसको अभी काल का बल नहीं मिला है। काल के बिना पुरुषार्थ कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रत्येक पुरुषार्थी की इच्छा तो यही होती है कि पुरुषार्थ से मुझे अभी इसी क्षण फल मिल जाय, दवाई पीते ही रोग मिट जाय, बम्बई से जहाज चलाया कि शीघ्र ही वह जहाज कलकत्ता पहुँच जाय, कक्षा में उपस्थित हुए कि परीक्षा समाप्त हो जाय, किन्तु ऐसी इच्छा से प्रबल पुरुषार्थ किया जाय तो भी क्या हो सकता है? काल की शक्ति के बिना फल सिद्धि प्राप्त हो सकेगी? कभी नहीं। नियत समय पर ही दवाई से आराम हो सकता है, बम्बई से चला हुआ जहाज कुछ दिन बाद ही कलकत्ता पहुँच सकता है। पुरुषार्थ की सामर्थ्य हो तो जिस क्षण उद्यम हो उसी क्षण उसका फल मिलना चाहिये। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। स्वभाव भी काल के बिना अर्थ साधक नहीं होता है। आम की

गुठली में महावृक्ष रूप में परिणत होने का और हजारों आम्र फल उत्पन्न करने का स्वभाव है । लीजिये मैं स्वभाववादी के हाथ में यह आम की गुठली देता हूँ । क्या वह मुझे इसी क्षण इसमें से महान वृक्ष बना कर और आम्रफल पैदा करके आस्वाद करा सकेगा ? यदि उसे पुरुषार्थ की सहायता चाहिए तो पुरुषार्थ की सहायता भी देवें और फिर पुरुषार्थी गुठली को अच्छी जमीन में बोकर खाद डाल कर जल पानी का उठाने में प्रयत्नशील होवे, और प्रारब्ध की सहायता चाहिए तो जिसके प्रारब्ध में आम्र फल खाने का सौभाग्य हो ऐसे एक मनुष्य को भी समर्पित कर देवें । तो भी क्या गुठली के स्वभाव का फल आज का आज ही मिल सकेगा ? मैं कहता हूँ कि काल की सहायता के बिना फल कभी नहीं मिल सकता । अतः अङ्गीकार कीजिए कि काल के बल से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं । वस्तुतः इस अद्भुत काल की मर्यादा अनुल्लङ्घनीय है । ग्रीष्म काल में ही सूर्य तपता है, शीत काल में ही ठंड पड़ती है, चातुर्मास में ही वर्षा होने पर धान्य पकता है । वसन्त ऋतु में ही वृक्ष नव पल्लव युक्त होकर फलते फूलते हैं, प्रातःकाल ही कमल विकसित होता है और सायंकाल ही सङ्कुचित होता है । यौवन काल में ही मनुष्य के दाढी मूँछ आती है, युवती ही गर्भ धारण करती है, वय परिपक्व होने पर ही विज्ञान प्राप्त होता है और तत्सम्बन्धी बल बढता है ।

ये सब कार्य काल की मर्यादा को ही गौरव प्रदान करते हैं । तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव भी काल की मर्यादा में ही होते हैं । कर्मभूमि, अकर्म भूमि, आयुष्य, बल, संघयण, (अवयव संधि) की हानि या वृद्धि भी समयानुसार ही होती है । सत्य ही कहा है कि —

> कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
> कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १ ॥

काल ही भूतों (जीवों) को पैदा करता है और वही उनका संहार करता है। जब सब निद्रा में लीन होते हैं तब काल सर्वदा जागृत रहता है। अतः काल की मर्यादा किसी से उल्लंघित नहीं हो सकती है।

प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने वाला, स्थिर करने वाला, संहार करने वाला, संयोग में वियोग और वियोग में संयोग करने वाला भी काल ही है।

परमाणु का द्वयणुक रूप बनाने वाला तथा द्वयणुक से परमाणु को भिन्न करने वाला भी काल है। क्योंकि परमाणु तथा द्वयणुकादि अनन्तानन्त स्कन्ध, स्थिति के आधीन रहते हैं और स्थिति काल ही है। अतः जड़ चेतन सब वस्तुओं पर काल का ही साम्राज्य चलता है। कर्मोदय करने वाला तथा नियत समय तक कर्म का फल देकर उससे मुक्त करने वाला भी काल ही है। किं बहुना मनुष्य को संसार से मोक्ष में भेजने वाला भी काल ही है। भवस्थिति पके बिना मोक्ष भी प्राप्त नहीं हो सकता। यह काल स्वरूप में स्वयं ही है।

महाभारत में भी ठीक ही कहा है कि—

> यथा वायुस्तृणाग्राणि, संवर्तयति सर्वशः।
> तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ॥
>
> म० भा० स्त्री० प० अ० २। ८

अर्थ—जिस प्रकार वायु तृणों के अग्रभाग को सभी ओर से घसीट कर एकत्रित करता है उसी प्रकार हे भरत श्रेष्ठ! सभी भूत, काल के आधीन होते हैं।

> नाहं कर्ता ■ चैव त्वं नान्यः कर्ता शचीपते।
> पर्यायेण हि भुज्यन्ते, लोकाः शक्र! यदृच्छया॥
>
> म० भा० शां० प० अ० २२४।४१

अर्थ—बलि राजा इन्द्र को कहते हैं कि हे इन्द्र ! मैं कर्ता नहीं, तू भी नहीं। इसी प्रकार अन्य कोई भी कर्ता नहीं है। हे शत्र ! सभी पदार्थ कालक्रममें यन्च्छासे—अकस्मात् भोगे जाते हैं।

> काल सर्व समादत्ते, काल सर्व प्रयच्छति।
> कालेन विहित सर्वं, मा कृथा शक्र पौरुषम् ॥
>
> म० भा० शां० प० अ० २२४।२५

अर्थ—बलि और इन्द्र के सवाद में बलि कहता है कि—काल ही सब कुछ ले लेता है और काल ही प्रदान करता है। यह सब काल ही का किया हुआ है इसलिए हे इन्द्र ! तू पुरुषार्थ मत कर।

पडित जी ने मेरा पहले नवर में परिचय कराया है, यह वस्तुत ठीक ही किया है। क्योंकि मैं पाँचों में मुख्य हूँ, इसी लिये मेरा सिद्धान्त भी प्रबल है, ऐसा आप स्वीकार करेंगे, इसी आशा के साथ मैं अपना विषय समाप्त करता हूँ।

मन्त्री—स्वभावचद्र ! अब आप भी अपने स्वभाव की प्रबलता प्रकट कीजिए। काल, प्रारब्ध और पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्ध हो जाता है, आप बीच में क्यों पडे ?

स्वभावचन्द्र—अरे साहब ! आप क्या कहते हैं ? काल, प्रारब्ध और पुरुषार्थ तो क्या परन्तु उनसे भी कोई समर्थ व्यक्ति आजाय तो भी मेरी अनुकूलता के बिना क्या कोई कार्य हो सकता है ? कभी नहीं। आम की गुठली में या बड के बीज में उत्पन्न होने का, अकुरित होने का तथा वृक्षरूप बनने का स्वभाव है तभी माली का पुरुषार्थ काम आता है। तब ही बाग के मालिक के शुभ प्रारब्ध शुभ फल देते हैं और तब ही काल बल से अकुर आदि बन सकते हैं। काल, प्रारब्ध, पुरुषार्थ

और नियति को मैं तब ही शूरवीर समझूँगा जब कि ये मेरे बिना इन कार्यों को कर सकें। आम की गुठली के बजाय नींबोली में से आम का वृक्ष पैदा करें अथवा आम की गुठली से नीम का वृक्ष उत्पन्न कर, सरदी में गरमी कर और गरमी में सरदी करें, हेमन्त में वर्षा कर, अग्नि को शीतल बनाये, जहर को अमृत बनावे शुभ कृत्य का फल दुःख में परिणत करें तथा दुष्कृत्य का फल सुख में परिवर्तित करें और स्त्री के मुख पर मूँछ उत्पन्न करें तब तो मैं काल प्रारब्ध या पुरुषार्थ की सामर्थ्य स्वीकार करने के लिये तय्यार हूँ। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता।

जिस वस्तु का जो स्वभाव है उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता है। वसंत ऋतु में वृक्षों का फलने फूलने का स्वभाव है तो फूलते फलते हैं। मछलियों का पानी में तैरने का, पक्षियों का आकाश में उड़ने का, सर्पों का छाती के बल रेंगने का, पशुओं का चार पैरों से चलने का, मनुष्यों का दो पैरों से चलने का, मनुष्य के बालकों का साल या दो साल में चलने का, पक्षियों का अण्डे से जन्म होने का, नक्षत्रों का घूमने का, अन्न में भूख मिटाने तथा शरीर के पोषण का, पानी में तृषा दूर करने का, बड़ के वृक्ष में छोटे फल लगने का और तुम्बा की लता में बड़े फल लगने का, कैर के वृक्ष में पत्ते न होने का, नीम में कड़ुआपन होने का और ईख में मीठापन होने का, जहर में प्राण हरने का, मदिरा में नशा करने का, मैनफल (एक प्रकार का फल विशेष) में उलटी कराने का, सूँठ में वायु हरने का और सोनामुखी (एक प्रकार का चूर्ण विशेष) में दस्त लाने का स्वभाव है। इन स्वभावों से ही ये कार्य हो सकते हैं। स्वभाव के विरुद्ध किसी से कुछ नहीं बन सकता। कुछ एक बातों में देश स्वभाव कार्य करता है, जैसे अफ्रीका के हबशियों की चमड़ी श्याम वर्ण और यूरोप

के निवासियों की चमड़ी गौर वर्ण होती है यह देश और जाति का स्वभाव है।

पुरुषार्थवादी, कालवादी या प्रारब्धवादी में शक्ति है तो क्या वे अधिक समय तक प्रयत्न करने पर भी हवशी के बालक की त्वचा गौर बना सकेंगे? और यूरोप निवासियों की त्वचा श्याम बना सकेंगे? जवासा (तृण विशेष) में सर्दी और गर्मी में अंकुरित होने का तथा चातुर्मास में सूख जाने का स्वभाव है, चातुर्मास में जब कि दूसरे घास तृण अंकुरित होते हैं और बढ़ते हैं वह सूख जाता है। क्या काल और पुरुषार्थ उसमें विपरीतता कर सकेंगे? वस्तुतः काल में फरक हो सकता है परन्तु स्वभाव तो कभी नहीं बदल सकता। देखिये, सूरत से बम्बई जाने के लिये पहले बहुत दिन लग जाते थे परन्तु अब रेल्वे (Railway) का साधन होने पर पाँच या सात घण्टों में पहुँचा जा सकता है। बम्बई से कलकत्ता सन्देशा पहुँचने में पहले कई महीने व्यतीत हो जाते थे, अब तार या टेलीफोन द्वारा थोड़े से मिनटों में सन्देशा पहुँच जाता है। साधारणतया आम के वृक्ष में कई साल बाद फल आता है, परन्तु कलम चढ़ाने से उसी साल फल आ जाता है। किसी दवाई के योग से युवावस्था में भी मस्तक के बाल सफेद हो जाते हैं और किसी दवाई के योग से वृद्धावस्था में भी बाल सफेद न होकर काले के काले ही बने रहते हैं। कोई बालक विशिष्ट निरीक्षण के साथ पालित पोषित किया जाय तो दूसरों की अपेक्षा वह कहीं जल्दी बोलना, चलना सीख सकता है। इस प्रकार पुरुषार्थ से काल की मर्यादा को लम्बी या अल्प होती हुई हम सब देख सकते हैं, परन्तु मेरी अर्थात् स्वभाव की मर्यादा का उल्लंघन करते किसी ने देखा है?

किसी भी देश में जाकर, कैसा भी प्रयत्न कीजिए तो भी हाइड्रोजन के दो परमाणु और ऑक्सीजन के एक परमाणु

से ही पानी बन सकेगा क्योंकि उनका ऐसा ही स्वभाव है। परमाणु का अगुरुलघु और अनन्तप्रदेशीस्कंध का गुरुलघु होने का स्वभाव है इसीलिए अनन्तप्रदेशीस्कन्ध होने पर ही गुरुलघु गुण मालूम होगा। परमाणु द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों में कभी भी गुरुलघु गुण मालूम नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार संसार में स्वभाव की ही प्रधानता होने से महाभारत में भी कहा है कि—

> धातवः पञ्च भूतेषु, खं वायुर्ज्योतिषो धरा।
> ते स्वभावेन तिष्ठन्ति वियुज्यन्ते स्वभावतः॥

म० भा० शा० प० अ० २१६ श्लो० १

अर्थ—पाँचभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये सभी स्वभाव से मिलते हैं और स्वभाव से ही भिन्न होते हैं।

> स्वभावात्सम्प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च।
> सर्वे भावास्तथाऽभावा पुरुषार्थो न विद्यते॥

म० भा० शा० प० अ० २२१।१५

अर्थ—स्वभाव से ही सब भाव और अभाव पदार्थ प्रवृत्त होते हैं और निवृत्त होते हैं, इसमें पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है।

> यस्तु कर्तारमात्मानं, मन्यते साध्वसाधु वा।
> तस्य दोषवती प्रज्ञा, अतत्त्वज्ञेति मे मतिः॥

म० भा० शा० प० अ० २२२।१७

अर्थ—कोई मनुष्य चाहे वह साधु या असाधु हो किन्तु आत्मा को ही कर्ता मानता हो अर्थात् बिना स्वभाव के पुरुषार्थ से ही सब होता है ऐसा मानता हो उसकी प्रज्ञा तत्व को नहीं जानने वाली होकर दोषयुक्त है ऐसा मेरा मन्तव्य है।

यदि स्यात् पुरुष कर्ता, शक्रात्मश्रेयसे ध्रुवम् ।
आरम्भास्तस्य सिद्ध्येयु र्न तु जातु पराभवेत् ॥

म० भा० शा० प० अ० २२२।१८

अर्थ—हे शक्र ! यदि आत्मश्रेय के लिये मनुष्य स्वय निश्चय से कर्ता हो तो मनुष्य की हरएक प्रवृत्ति सफल होनी चाहिए, कहीं भी निष्फलता नहीं होनी चाहिये, पर ऐसा तो दिखाई नहीं देता। अत स्वभाव की ही प्रधानता माननी चाहिए।

अनिष्टस्याभिनिर्वृत्ति-मिष्टव्यावृत्तिमेव च ।
अप्रयत्नेन पश्याम , केषाञ्चित्तत्स्वभावत ॥

म० भा० शा० प० अ० २२२।२०

अर्थ—कई लोगो को अनिष्ट की निष्पत्ति और इष्ट की निवृत्ति, बिना प्रयत्न के केवल स्वभाव से ही हो जाती हैं ऐसा हम देखते हैं।

स्वभावप्रेरिता सर्वे, निविशन्ते गुणा यदा ।
शुभाशुभास्तदा तत्र, कस्य किं मानकारणम् ॥

म० भा० शा० प० अ० २२२।२७

अर्थ—जब कि स्वभाव से ही प्रेरित होकर शुभ, अशुभ आदि सभी गुण मनुष्य म प्रवेश करते हैं तब 'मैंने यह किया' इस प्रकार का अभिमान करने का क्या कारण है ?

स्वभावादेव तत्सर्व-मिति मे निश्चिता मति ।
आत्मप्रतिष्ठा प्रज्ञा वा मम नास्ति ततोऽन्यथा ॥

म० भा० शा० प० अ० २२२।२३

अर्थ—सुख, दु ख आदि सभी विषय स्वभाव से ही बनते हैं, यह मेरा निश्चय है। आत्म प्रतिष्ठा और प्रज्ञा मेरी मान्यतानुसार स्वभाव के सिवाय अन्य प्रकार से नहीं बन सकती।

स्वभावाल्लभते प्रज्ञां शान्तिमेति स्वभावतः
स्वभावादेव तत् सर्वं यत् किंचिदनुपश्यति ॥

म० भा० शां० प० अ० २२२।१८

अर्थ—स्वभाव से ही प्रज्ञा और शान्ति की प्राप्ति होती है और जो कुछ भी वस्तु दृष्टिगोचर होती है वह स्वभाव से ही बनती है।

अधिक विस्तार के भय से मैं संक्षिप्त रूप में कह दूँगा कि प्रत्येक कार्य में स्वभाव ही मुख्य कारणभूत है।

अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिकारणम्

अर्थात् अन्यथा सिद्ध न हो और नियमित रूप से कार्य से पहले वर्तमान हो उसे कारण कहा जाता है। न्याय शास्त्र में कथित यह लक्षण वस्तुतः स्वभाव में ही घटता है। स्वभाव ही अनन्यथा सिद्ध है। स्वभाव अनन्यथा सिद्ध है इसी बात पर अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं और अब भी अनेक दृष्टान्त दे सकता हूँ, परन्तु इससे बहुत विस्तार होने की सम्भावना है अतः इतनी संक्षिप्त दलीलों से ही आपकी विवेक बुद्धि सत्यवस्तु का निर्णय ग्रहण कर सकेगी इस विश्वास के साथ एक श्लोक कह कर अपना कथन समाप्त करूँगा।

कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता।
वर्णाश्च ताम्रचूडानां स्वभावेन भवन्ति हि ॥१॥

अर्थात् कण्टक की तीक्ष्णता मयूर के पिच्छों (परों) की विचित्रता और मुर्गों के रंग बिरंगे वर्ण ये सब उन उन जाति के स्वभाव से ही होते हैं। जो उनका स्वभाव न हो तो क्या किसी बढ़ई या चित्रकार के पुरुषार्थ की सामर्थ्य से कण्टक की तीक्ष्णता और मयूर पिच्छों (परों) की विचित्रता बनाई जा सकती है?

कर्मचन्द्र—श्रीमान् महाराजाधिराज और सज्जनो ! स्वभावचन्द्र के वचन अभिमान पूर्ण हैं। वैसे ही बन्धु कालचन्द्र भी आत्मश्लाघा के अतिरिक्त और कुछ भी प्रकट नहीं कर सका। सच्ची बात तो यह है कि काल और स्वभाव दोनों मेरे पीछे चलने वाले हैं। स्वभाव को बनाने वाला तथा काल को नियमित करने वाला मैं ही हूँ। एक भी उदर से एक ही समय दो बालक उत्पन्न होते हैं, उनमें एक सुरूप और दूसरा कुरूप, एक बुद्धिमान और दूसरा मूर्ख, एक मन्द और दूसरा चालाक (चतुर) एक सौभाग्यशील और दूसरा दुर्भागी बनता है यह क्या काल और स्वभाव से होता है ? कदापि नहीं। जन्मकाल दोनों का समान है, इसी प्रकार दोनों एक ही माँ बाप के पुत्र और शासन में उत्पन्न हुए हैं, एक ही उदर में साथ रहे हैं, एक ही वातावरण में वृद्धिगत हुए हैं इससे स्वभाव का प्रभाव दोनों पर समान ही हुआ है, तो भी जो भिन्नता आँखों से देखने में आती है उसका निर्णय करनेवाला मेरे सिवाय कौन है ? मैं कहूँगा कि यह परिणाम मेरे आधार पर ही है। जिसने पूर्व जन्म में अच्छे कर्म किये उसको अनुकूल संयोग प्राप्त हुए और जिसने बुरे कर्म किये उसको प्रतिकूल संयोग प्राप्त हुए। सच ही कहा है कि—

कर्म प्रताप तुरंग रिसावत, कर्म से छत्रपति बन होई।
कर्म से पुत्र सुपुत्र कहावत, कर्म से और बड़ा नहिं कोई॥
कर्म फिर्यो जब रावन को, तब सोन की लंक छिनु में हो खोई।
आप बड़ाइ करो कहा मूरख ! कर्म करे सो करे नहिं कोई॥

एक राजा दूसरा रंक, एक रोगी दूसरा निरोगी, एक धनाढ्य दूसरा दरिद्री, एक पालकी में बैठने वाला दूसरा पालकी उठाने वाला, एक आज्ञा प्रवर्तक दूसरा आज्ञा पालक, एक मनोवांछित वस्तु प्राप्त करने वाला दूसरा इच्छा से विपरीत

प्राप्त करने वाला, एक सरदार दूसरा तावेदार, एक दातार दूसरा कजूस, एक लंबा चौडा दूसरा वामन, एक बलवान दूसरा दुर्बल, यह सब विचित्रता बनाने वाला मेरे सिवाय कौन है ? एक उच्च कुल में उत्पन्न होता है दूसरा नीच कुल में उत्पन्न होता है, एक तीक्ष्ण स्मरण शक्ति प्राप्त करता है दूसरा विस्मरणशील है एक अल्प परिश्रम से पास होता है दूसरा अधिक परिश्रम करने पर भी असफल होता है, एक योग्य पुरुष को सुभार्या मिलती है दूसरे को कुभार्या मिलती है। एक पापी को सपूत मिलता है दूसर धर्मी को कपूत मिलता है एक के अनेक पुत्र होते हैं दूसरा बलवान अपुत्र रहता है, एक को व्यापार में इच्छा से अधिक लाभ होता है दूसरे को लाभ मिलने की आशा होने पर भी नुकसान होता है। एक को बिना ही परिश्रम के अच्छे नौकर और हिस्सेदार प्राप्त होते हैं दूसरे को अत्यधिक परिश्रम करने पर भी बुरे नौकर और हिस्सेदार मिलते हैं। एक लंबी आयु भोगता है दूसरा युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त होता है यह सब चमत्कार करने वाला मेरे सिवाय और कौन है ? मैं जिस पर सतुष्ट होता हूँ उसको हर एक इष्ट पदार्थ मिलते हैं और मेरी वक्र दृष्टि जिस पर पड़ती है उसके पास जो कुछ भी होता है वह भी चला जाता है। राजा को रंक और रंक को राजा बनाने वाला भी मैं ही हूँ। प्राणियों को स्वर्ग में ले जाने वाला मैं ही हूँ और नरक के गर्त में डालने वाला भी मैं ही हूँ। इंद्रियाँ और प्राणशक्ति देने वाला मैं ही हूँ और मिली हुई इंद्रियशक्ति तथा प्राणशक्ति का हरण करने वाला भी मैं ही हूँ। एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय में पहुँचाने वाला मैं ही हूँ और पञ्चेन्द्रिय से एकेन्द्रिय में फेंकने वाला भी मैं ही हूँ। शरीर स्वास्थ्य, मनोबल तथा बुद्धिविकास कराने वाला भी मैं हूँ और उनका ह्रास करने वाला भी मैं ही हूँ।

मैंने बहुत से चतुर मनुष्यों को समय पर चक्कर में डाल दिया है और मूर्ख मनुष्यों के कार्य अच्छे रूप मे परिणत कर दिये हैं। इतना होने पर भी मैंने किसी के साथ गैरइन्साफ नहीं किया है। जिसकी जैसी कृति होती है उसको वैसा ही फल दिया है, देता हूँ और दूँगा।

मेरिये महाभारत के ग्यारहवे पर्व में धृतराष्ट्र को विदुर ने ठीक ही कहा है कि—

> वैचित्रवीर्य ! साध्य हि, दुःख वा यदि वा सुखम्।
> प्राप्नुवन्तीह भूतानि, स्वकृतेनैव कर्मणा॥
>
> म० भा० स्त्री० प० अ० ११।१०

अर्थ—हे वैचित्रवीर्य ! साध्य सुख और दुःख प्राणी अपने किये हुए कर्म से ही ससार में प्राप्त करते हैं।

> कर्मणा प्राप्यते स्वर्गं, सुख दुःख च भारत।
> ततो वहति त भार—मवश स्ववशोऽपि वा॥
>
> म० भा० स्त्री० प० अ० ११।११

अर्थ—हे भारत ! कर्म से ही प्राणी स्वर्ग सुख और दुःख पाता है और इस भार को स्वाधीन या पराधीन होकर भोगता है।

> यथा च सलिल राजन्, क्रीडार्थ-मनुसतरत्।
> उन्मज्जेच्च निमज्जेच्च, किंचित्सत्त्व नराधिप !॥
> एवं ससार-गहन, उन्मज्जननिमज्जने।
> कर्मभोगेन बध्यन्ते, क्लिश्यन्त चाल्पबुद्धय॥
>
> म० भा० स्त्री० प० अ० ११।१७।१८

अर्थ—हे राजन् जिस प्रकार जलक्रीडा करता हुआ मनुष्य पानी के नीचे जाता है, ऊपर तैरता है, इसी प्रकार ससार सागर में प्राणियों का डूबना और ऊपर आना कर्मों के द्वारा ही हुआ

करता है। मन्द बुद्धि वाले जीव कर्मफल से ही सुख को और दुःख को प्राप्त होते हैं।

> शयानं चानुशेते हि, तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति ।
> अनुधावति धावन्तं, कर्म पूर्वकृतं नरं ॥
>
> म० भा० शां० प० अ० १।३८

अर्थ—पूर्व कृत कर्म मनुष्य के साथ फिरता रहता है, मनुष्य सोजाता है तो कर्म भी उसके साथ सो जाता है मनुष्य खड़ा रहता है तो कर्म भी उसके पीछे खड़ा रहता है, मनुष्य दौड़ता है तो कर्म भी उसके पीछे दौड़ता है।

> यस्यां यस्यामवस्थायां, यत्करोति शुभाशुभम् ।
> तस्यां तस्यामवस्थायां, तत्फलं समुपाश्नुते ॥
>
> म० भा० शां० प० अ० २।२४

अर्थ—मनुष्य शुभ या अशुभ कर्म जिस जिस अवस्था में करता है उस उस अवस्था में वह कर्म का फल भोगता है।

> शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
> कृतं भवति सर्वत्र नाकृतं विद्यते क्वचित् ॥
>
> म० भा० शां० प० अ० २।२७

अर्थ—शुभ कर्म से सुख और पाप कर्म से दुःख मिलता है, सब जगह किए हुए कर्म का फल मिलते हैं बिना कर्म किए कहीं भी फल नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि कर्म के सिवाय और कोई फल देने वाला नहीं है। इसलिए मैं दृढता पूर्वक कहता हूँ कि मुझे वंचित करने की ताकत किसी में भी नहीं है मैं अपने करतूतों को लाखों या करोड़ों वर्षों के बाद भी भूलनेवाला नहीं हूँ और बदला दिये बिना छोड़ने वाला नहीं हूँ। सुनिए—

> नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
> अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१॥

करोड़ों कल्प व्यतीत होने पर भी कर्म का करजा दिये बिना जीव मुक्त हो नहीं सकता। शुभ या अशुभ जिस प्रकार कर्म किये हैं उसी प्रकार अवश्य ही भोगने पड़ेंगे। कर्म का करजा कभी भी अन्यथा नहीं होगा। राज्यशासन बदलेगा, जमाना परिवर्तित होगा, रीति रिवाज बदल जायेंगे, योनि और जाति का परिवर्तन हो जायगा तो भी मैं अपने करजदारों को कहीं से भी खोजकर करजा वसूल करूँगा ही। कोतवाल, दिवान, रायबहादुर, बेरोनेट्, राजा बादशाह, शाहन्शाह, चक्रवर्ती या इन्द्र महेन्द्र की परवाह मैं नहीं करूँगा। मैं किसी के दबाव में आनेवाला नहीं हूँ। मैं स्वतन्त्र हूँ।

पुरुषार्थसिंह—आ कर्मवादी कर्मचन्द्र! बस कर, बहुत हुआ। तेरी मर्यादा से अधिक आत्मश्लाघा मुझसे या अन्य किसी से नहीं सुनी जाती। तुझ मर्यादा का उल्लंघन करते देख कर मेरा खून उबला जाता है। तुमने आज भाँग पी है या सन्निपात होगया है? क्या हुआ है? एक ही टरा लेकर चला जा रहा है, बोलता ही जाता है, किसी का देखता नहीं? जरा मेरे सामने दृष्टि कर और कह कि तेरा उत्पन्न करने वाला कौन है? तेरी सामर्थ्य बढाने वाला कौन है? तुझे उदय में लाने वाला कौन है? क्यों, सब को भूल गया क्या? अरे उद्धत! क्या सामने स्थित अपने पिता को पहचानता नहीं? मैंने तुझे उत्पन्न किया, मैंने तेरा सचय किया और मैंने ही तेरा शुभ या अशुभ बल बढाया मैं जब तुझे उदय में लाता हूँ और फलाभिमुख करता हूँ तभी तो तू और तेरा स्वभाव दोनों मिलकर प्राणियों को शुभाशुभ फल देते हो। उसमें भी अगर मैं चाहूँ तो उलट पुलट कर सकता हूँ अर्थात् शुभ का अशुभ और अशुभ का शुभ कर सकता हूँ। तू मेरा सेवक है, मैं तेरा

स्वामी हूँ। मैं तुमसे पहले भी था और बाद में भी स्थित रहूँगा। इतना ही नहीं परन्तु जहाँ तेरी गति नहीं है, तेरी शक्ति नहीं है, वहाँ पर भी मैं अपना पराक्रम दिखाता हूँ।

संसार में परिभ्रमण कराने में तेरी गाड़ी चलती है परन्तु मनुष्य को संसार से मुक्त कराने में क्या तेरी सामर्थ्य है? वहाँ तो मेरी ही सत्ता चलती है और वह भी तेरा ध्वंस करने के लिए ही। जो उसमें मेरा बल अच्छी तरह जम जाए तो मैं तेरा समूल नाश कर मनुष्य को मोक्ष के सुख में रख सकता हूँ। पूर्ण ज्ञान में भी प्रकट करता हूँ और तुझे वहाँ से एकदम भागना पड़ता है। वहाँ पर तेरा और कुछ भी उपाय नहीं चलता। अधिक क्या कहूँ? तू मेरे सामने बिलकुल नादान है। सद्गृहस्थो! इस धूर्त कर्म के फन्द में फँसाने और इसके एकपक्षी कथन पर विश्वास रखकर बैठे रहोगे तो आप फल से वंचित रहोगे, भाग्यशाली होकर दुर्भागी बनोगे और ऐसा होने पर दुष्ट प्रमाद आपको पकड़ लेगा और वह अपना प्रभुत्व चला कर आपके पैर तोड़ देगा। पूर्व के अदृष्ट उद्यम से कदाचित् श्रेष्ठ कार्य किए होंगे तो भी आप उनका वर्तमान के सदुद्योग के बिना और श्रेष्ठ संयोग प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किए बिना पूर्व संचित शुभ कर्म भी फलाभिमुख होकर इष्ट फल नहीं दे सकेगा। जहाज, सब सामग्री तैयार होने पर भी एक चतुर कप्तान के बिना जैसे इधर उधर भटकता है, वाष्प (भाप) आदि की पूर्णता होने पर भी एक ड्राइवर (Driver) के बिना जैसे इंजिन (Engine) निर्धारित दिशा या स्थान पर नहीं पहुँच सकता वैसे ही कर्मों का समूह तैयार होने पर भी एक योजक पुरुषार्थ के बिना उसकी यथायोग्य योजना नहीं हो सकती है। आटा, पानी, आग, वगैरह पास होने पर भी प्रयत्न के बिना भोजन नहीं बन सकता। रोटी थाली में पड़ी हो तो भी हाथ

चलाये-बिना मुख में नहीं आ पडती। मुख में रखा हुआ ग्रास दांतों से चबाये बिना एकरस नहीं होता और एकरस होकर उदर में पडा हुआ भोजन भी प्रयत्न के बिना हजम होकर पोषण नहीं देता। दैव या कर्म पर विश्वास रख कर बैठे हुए सौ मनुष्यों में से कितनों को कर्म ग्रास देता है और कितनों को तृप्त करता है? बुद्धि कितनी ही तीक्ष्ण हो परन्तु उद्यम के बिना विद्यार्थी कभी भी उत्तीर्ण नहीं हो सकेगा और अल्प बुद्धि वाला विद्यार्थी भी पुरुषार्थ के बल से तीक्ष्ण बुद्धि वाले निरुद्यमी को हटा कर आगे बढ जाता है। उद्योग से ही मनुष्य अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करके शास्त्रवेत्ता बन सकते हैं और उद्योग से ही नयी नयी कल्पनायें तर्क सम्वाद (ड्रामा) निबन्ध और ग्रन्थ रचना कर सकते हैं। उद्योग से ही कला में प्रवीणता प्राप्त हो सकती है। उद्यम से ही देश देशान्तरों का अनुभव प्राप्त करके व्यापार-हुन्नर का विकास कर द्रव्योपार्जन किया जाता है।

इसीलिये एक कवि ने मेरे वक्तव्य का कितना अच्छा समर्थन किया है और मनुष्य को उद्बोधन करते हुए कर्मवादी कायरों की क्या क्या धज्जियाँ उडाई हैं।

(१)

नहीं माँगने से मिलता कुछ लेने से ही मिलता है
नहीं ग्रास रोटी का अपने आप बदन में ढलता है,
वही पहुँचता मंजिल पर जो पाँव बढाता चलता है,
फसल काटने से पहले पडता है धान सदा बोना।
सोते सोते में कितना तुम लुटा चुके अपना सोना!

(२)

कवि औ' मूर्ख ये दो दुनियाँ में लेते रहते हैं सपना,
कवि का सपन तो दुनियाँ भर का होजाता है अपना,

रि तु सुप्त तामस निद्रा में आ लेता रहता है सपना
नहीं अरे, अपना भी होता दुनिया का तो क्या होना !
सोने सोने में कितना तुम लुटा चुके अपना सोना !

(३)

जितना जैसा काम करोगे उतना पैसा पाओगे
कुछ न मिलेगा सोते सोते यदि तुम समय गँवाओगे
और हाथ मल मल कर पीछे बैठे तुम पछताओगे,
काँटे बोकर फूलों का क्या भला किसी ने है होना !
सोने सोने में कितना तुम लुटा चुके अपना सोना !

(४)

दुनियाँ में कायर को पाने का कोई अधिकार नहीं
वीर भोग्य वसुधा का कायर की बिल्कुल दरकार नहीं
वीर कभी होते सपने में भी यथम लाचार नहीं !
ये तो ईश्वर में भी लोहा लेकर बन जाते सोना !
सोने सोने में कितना तुम लुटा चुके अपना सोना !

(५)

मानव ! तुमने क्या न अभी तक अपनी आँखों को खोला
पड़े हुए तुम क्यों निराश पाकर भी सुर दुर्लभ चोला !
तुमने निज तामस निद्रा से गहरे अमीरस में घोला
सीख लिया तुमने यह कायरता में क्यों जीवन खोना !
सोने सोने में कितना तुम लुटा चुके अपना सोना !

सदा उद्यमी मनुष्यों ने ही टेलीग्राफ (Telegraph), वायरलैस टेलीग्राफ (Wireless Telegraph) फोनोग्राफ, (Phonograph) रेलवे, मोटर गाड़ी, हवाई जहाज, अनेक प्रकार के शस्त्र और कारखानों की खोज़ की है। वे अगर कर्म पर ही विश्वास रखकर बैठे रहते तो क्या कभी केवल कर्म की सहायता से

उक्त फल प्राप्त कर सकते थे? सच ही कहा है कि—उद्यमे नास्ति दारिद्र्यम्। अर्थात् जहाँ उद्यम रहता है वहाँ दरिद्रता नहीं रहती। भर्तृहरि कहते हैं कि उद्योग के साथ ही लक्ष्मी का मेल है, यथाहि

> उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी—
> दैवं प्रधानमिति कापुरुषा वदन्ति।
> दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
> यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥ १॥

सिंह जैसे पराक्रमी मनुष्य को ही लक्ष्मी—इहलौकिक तथा पारलौकिक सम्पत्ति प्राप्त होती है। भाग्य में होगा तब ही मिलेगा ऐसा तो कायर आलसी मनुष्य ही मानते हैं। अरे बन्धु! जितनी तुझ में ताक़त हो उसके अनुकूल दैव के सामने होकर पुरुषार्थ कर। पुरुषार्थ करने से अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी। कदाचित् किसी समय पुरुषार्थ का फल न मिले तो उसमें कुछ कमी है ऐसा समझ कर जो कमी हो उसे दूर कर। दूसरी बार तीसरी बार भी प्रयत्न करेगा तो अवश्य ही फल मिलेगा। एक ही उद्यमी मनुष्य अनेक मनुष्यों की सहायता प्राप्त कर विजय पाता है, तब अनुद्यमी सेनापति अनेक मनुष्यों का अधिपति होने पर भी पराजय पाता है। रामचन्द्र जी का उदाहरण लीजिए। सीता जी का अपहरण होने पर रामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी दोनों भ्राता सैन्य की सहायता और साधन रहित थे तो भी निरन्तर उद्यम से वे क्या क्या कर सके थे यह मैं एक सुभाषितकार के पद्य से सुनाता हूँ।

> विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि—
> र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः॥
> तथाप्येको रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं।
> क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे॥ १॥

सीताजी की खोज करते करते जब पता लगा कि रावण उनको लंका में—अपनी राजधानी में ले गया है तब रामचन्द्रजी को वहाँ पर कितनी कठिनाई से पहुँचना था, प्रथम तो लंका द्वीप समुद्र के दूसरे किनारे पर स्थित है। समुद्र का उल्लंघन कर वहाँ जाना था। समुद्र को पार करने के लिये भी अपने पास नाव या जहाज जैसा कोई साधन नहीं था। परन्तु भुजाओं से समुद्र को पार करना था। वहाँ जाकर भी लड़ाई करनी थी। वह भी जैसे तैसे के साथ नहीं किन्तु पौलस्त्य जैसे एक बलवान राक्षस के साथ संग्राम में उतरना था। उसमें भी सैन्य का बल हो तो फिर भी विजय प्राप्त हो सकती है परन्तु ऐसा सैन्य भी नहीं था। सैन्य में केवल बन्दरों की सहायता! इतनी प्रतिकूलता होने पर भी रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी में हिम्मत और सत्त्व था तभी तो अपने बल पर युद्ध करके सब कार्य सिद्ध किये। लंका में पहुँच दुश्मनों को मारा और सीताजी के साथ साथ लंका का राज्य भी प्राप्त किया। ये सब कार्य किससे हुए? दूसरों पर विश्वास रख कर या दूसरों की राह देखकर बैठ रहने से? कभी नहीं। परन्तु अपने पर भरोसा रखकर पुरुषार्थ करने से ही हुए हैं।

मन्त्री साहब! मैं अपने प्रतिवादियों को नीचा दिखाने के लिये या अपनी बड़ाई के लिये गर्व से अतिशयोक्ति बोलता हूँ ऐसा शायद आपको प्रतीत होता होगा, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। मैं अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही बोलता हूँ। यह भी अपनी कपोल कल्पना से नहीं परन्तु शास्त्राधार पूर्वक कहता हूँ। जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी जो कि सर्वत्र सम दृष्टि वान, सर्वज्ञ, यथार्थवादी और वीतराग पुरुष थे, उन्होंने निष्पक्ष भाव से मेरी सत्ता को स्वीकार किया है उसे बतलाता हूँ सुनिए,

उपासकदशा सूत्र के छट्ठे अध्ययन में कुडकोलिक श्रावक तथा एक देवता का संवाद चला है। देवता ने कुडकोलिक से कहा कि "सब पदार्थ भावीभाव के अनुसार बना करते हैं, अपना किया कुछ नहीं होता" ऐसा जो गोशाला का सिद्धान्त है वह ठीक जँचता है। उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम से कार्य होते हैं ऐसा जो महावीर स्वामी का सिद्धान्त है वह अच्छी तरह नहीं जँचता। यह सुनकर कुडकोलिक बोला कि, भो देव! जो सब पदार्थ नियति से ही होते हो तो तुम्हें यह ऋद्धि सम्पत्, दिव्यशक्ति आदि जो कुछ मिली है वह क्या बिना पुरुषार्थ से मिली है? जो ऐसा होता तो जिन्होंने शुभ कृत्यरूप पुरुषार्थ नहीं किया है उनको भी दिव्य शक्ति दिव्य ऋद्धि मिलनी चाहिये थी, परन्तु ऐसा कहा दृष्टिगोचर नहीं होता, अत पुरुषार्थ का अवश्य ही मानना होगा। इस वचन से वह देव निरुत्तर होकर पराजय को प्राप्त हुआ। तदनन्तर कुडकोलिक श्रावक महावीर प्रभु के दर्शनार्थ गया तब भगवान् महावीर ने साधु साध्वियों के समक्ष, कुडकोलिक श्रावक ने जो सिद्धान्त देवता को समझाया था, उसके लिये अतीव सन्तोष प्रकट किया और उसकी प्रशंसा की। पुरुषार्थ की अधिक गहरी नींव डालने के लिये पुन उपासकदशा के सातवें अध्ययन में भी श्रीमन्महावीर पुरुषार्थ का ही प्रस्ताव रक्खा है। गोशाला का अनुयायी शकडाल कुम्हार जोकि नियति (भावी भाव) को मानने वाला था उसको श्रीमन्महावीर ने एक बार पूछा कि, भो शकडाल! बरतन जोकि तेरी दुकान में रक्खे हुए हैं, वे कैसे बने हैं? शकडाल ने उसका वर्णन किया कि, पहले मिट्टी थी, उसका चूर्ण किया आदि। पुन श्रीमन्महावीर ने पूछा कि, ये बरतन तेरे पुरुषार्थ से बने हैं या बिना पुरुषार्थ से? शकडाल ने कहा— सब पदार्थ नियति के आधीन हैं, जो बनने वाले थे वे बने। श्री

भ० महावीर ने कहा कि, जो ऐसा ही है तो फिर कोई पुरुष तेरे बरतन लकड़ी से फोड़ डाले उसके प्रति तू कोप करे या नहीं? शकडाल ने कहा—क्यों नहीं? उसने बरतन फोड़ कर नुकसान किया अतः कोप तो अवश्य ही होगा। श्री महावीर ने कहा—भाई! तेरे मत के अनुसार तो ऐसा नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो बरतन फूटने वाले थे वही फूटे, नियतिवश ही फूटे तो फोड़ने वाले का क्या दोष? शकडाल ने कहा—उस मनुष्य ने लकड़ी से फोड़ दिये अतः अपराध किया। श्री महावीर ने कहा—तब तो पुरुषार्थ ही सिद्ध हुआ। जब उस मनुष्य ने लकड़ी मारी तब बरतन फूटे, लकड़ी नहीं मारी जाती तो नहीं फूटते। अतः हे शकडाल! तू स्वीकार कर कि *उत्थान कर्म, बल वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम द्वारा सब कार्य की सिद्धि हो सकती है।

श्री महावीर स्वामी का यह सिद्धान्त शकडाल को ठीक प्रतीत हुआ और उसने स्वीकार कर लिया। तब से शकडाल श्री महावीर का परम भक्त हो गया। भगवती सूत्र के प्रथम शतक के तृतीय उद्देशक में भी कर्मों का उदय उपशम उदीरणा आदि अपने किये होते हैं ऐसा बतला कर उत्थान कर्म, बल वीर्य, पुरुषाकार की ही स्थापना की है। इतना ही नहीं महाभारत में भी यही उपयोगिता सिद्ध की गई है। देखिये,

तथालसा मनुष्याणां ये भवन्त्यमनस्विनः ।
उत्थानं ते विगर्हन्ति, प्राज्ञानां तन्न रोचते ॥

म० भा० शां० प० अ० २ । १२

*उत्थान = किसी भी कार्य के लिये उद्यत होना—उठना। कर्म = उत्क्षेपण अवक्षेपण आदि क्रिया। बल = शरीर की सामर्थ्य। वीर्य = आत्मा की सामर्थ्य। पुरुषाकार = मनुष्य का वैसा ही प्रयत्न। पराक्रम = जिस प्रयत्न से फल सिद्ध किया जाय वह।

भावार्थ—मनुष्य समाज में जो अमनस्वी और आलसी हैं वे पुरुषार्थ का तिरस्कार करते हैं, परन्तु यह बात प्राज्ञ पुरुषों को रुचिकर नहीं है।

शक्नोति जीवितुं दक्षो, नालस सुखमेधते।
दृश्यन्ते जीवलोकेऽस्मिन्, दक्षाः प्रायः हितैषिणः ॥

म० भा० सौ० प० अ० २, १८

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य ही जीवन सफल बना सकता है। आलसी मनुष्य सुख को कदापि नहीं बढ़ा सकता। इस जीव लोक में दक्ष पुरुष ही स्वकीय और परकीय हित की साधना करते दिखाई देते हैं।

यदि दक्ष समारम्भात्, कर्मणो नाश्नुते फलम्।
नास्य वाच्य भवेत्किञ्चिल्लब्धव्य वाधिगच्छति॥

म० भा० सौ० प० अ० २,१६

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य कदाचित् कार्यारम्भ में फल प्राप्त नहीं करे तो भी उसे किसी प्रकार का धोखा नहीं हो सकता कभी न कभी फल प्राप्ति हो कर ही रहेगी।

मन्त्री महोदय! इस प्रकार अनेक स्थलपर धर्मशास्त्रों में भी मेरा सिद्धान्त सिद्ध किया गया है। विस्तार के भय से अधिक नहीं कहता हूँ। मेरे दिये हुए प्रमाणों से सहज ही समझ में आ सकता है कि, मेरा सिद्धांत कितना प्रबल है। मुझे विश्वास है कि, आपकी विवेक बुद्धि अवश्य ही मेरे हित में फैसला दिलावेगी।

नियतिविजय—अरे पुरुषार्थ वाची! तू अपना कक्का कहाँ तक घोंटा करेगा? कर्म को घड़ने वाला तू है, इसका इतना अधिक अहंकार तुझे आ गया है? अधिक अभिमान मत कर। "बहुरत्ना वसुन्धरा" है। सेर के ऊपर सवा सेर भी तो है।

जरा मेरी ओर देख। मेरी शक्ति का तो विचार कर फिर जो कुछ कहना हो सो कहना। देख मेरी सत्ता कैसी नियमित है। है कोई माई का पूत इसका निवारण करने वाला? अब सुन—

उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां—
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः ॥
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां।
तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा ॥१॥

चाहे दैवयोग से कदाचित् सूर्य पश्चिम दिशा से उदय को प्राप्त हो जाय, मेरु पर्वत चलायमान हो जाय, अग्नि शीतल बन जाय, पहाड़ की शिला पर पद्म कमल अङ्कुरित हो जाय परन्तु भावी भाव की जो कर्मरेखा है वह तो कभी भी चलित अन्यथा नहीं होती। जो पुरुषार्थ मेरे आधीन में ही है। मेरी सत्ता को अन्यथा करने वाला कोई नहीं है। मनुष्य की धारणा चाहे जैसी हो, मनुष्य का प्रयत्न भी चाहे जैसा हो, मैं उन पर आधार न रखकर स्वतन्त्रता से अपनी इच्छा के अनुसार फल देता हूँ।

सँपेरे की पिटारी में स्थित साँप और चूहे के प्रयत्न का दृष्टांत तो प्रसिद्ध है। बेचारे चूहे ने मिठाई की टोकरी समझकर खाने की आशा से बड़ा ही बड़ा परिश्रम कर छिद्र किया, तो उसका फल उलटा ही हुआ। क्षुधातुर और कैद में पड़े हुए साँप को विना ही परिश्रम किये भक्ष्य मिल गया और बाहर निकलने का मार्ग भी खुल गया। कहो, इसमें पुरुषार्थ क्या काम आया? सुनो, मेरी सत्ता को पुष्ट करने वाले कई एक श्लोक और भी सुनाता हूँ।

कान्तं वक्ति कपोतिकाकुलतया नाथान्तकालोऽधुना।
व्याधोऽधोधृतचापसज्जितशरः श्येनः परिभ्राम्यति ॥

इत्थं चिन्तयतो स दष्ट इषुणा श्येनोऽपि तेनाहत—
स्तूर्णं तौ तु यमालयं प्रति गतौ, दैवी विचित्रा गतिः ॥ १ ॥

नीचे से एक शिकारी की घातक दृष्टि से आड हुई और ऊपर से बाज की शिकार बनी हुई कबूतरी अपने स्वामी कबूतर से कहने लगी कि, हे नाथ ! अब अपना अंतकाल नजदीक आ गया है। दोनों तरफ से प्राप्त हुए इस संकट से बचना असम्भव है, क्योंकि नीचे शिकारी धनुष बाण चढाकर खडा है और ऊपर बाज हमें पकडने के लिये चक्कर लगा रहा है। कबूतर और कबूतरी उपस्थित हुई विपत्ति की चिंता कर रहे हैं, उसी समय शिकारी के पैर के पास जो बिल था उसमें से एक जहरीला साँप निकला और शिकारी के पैर को डस लिया उसके साथ ही शिकारी का पैर हिल उठा, जिससे धनुष पर चढाया हुआ बाण कबूतर कबूतरी के न लग कर ऊपर घूमते हुए बाज के लगा। एक तरफ शिकारी बेहोश होकर गिर पडा और दूसरी तरफ बाज तडपता हुआ गिरा, थोडी ही देर में दोनों यमधाम को पहुँच गये और कबूतर कबूतरी दोनों बच गये।

छित्वा जालमपास्य कूटरचनां, भङ्क्त्वा बलाद् वागुरां ।
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरे वनात् ॥
व्याधानां शरगोचरादतिजवेनोत्प्लुत्य धावन् मृगः ।
कूपान्तः पतितः करोतु विमुखे किंवा विधौ पौरुषम् ॥ १ ॥

भावार्थ—एक शिकारी ने हिरण को पकडने के लिये अनेक प्रपंच रचे, प्रथम तो चारों ओर जाल बिछा दी गई थी, बीच में छोटे छोटे गड्ढे खोद कर कूट रचना बना दी गई थी, फिर भी शिकारी अपने किये पर सशंक ही रहा। उसने कूट रचना के चारों ओर दूसरा बडा जाल बिछा दिया, इतना ही नहीं, उनके चारों कोणों में आग को प्रज्वलित करदी थी, इसलिये कि कदा

चिन् वह मृग जाल को तोड कर बाहर हो जाय तब भी आग म जलने स अपने आप पीछे गिरेगा। इतना करने पर भी वह शिकारी धनुष बाण से सज्जित होकर एक ओर छिपकर खडा रहा। ऐसे अनेक सकट जाल म फँसा हुआ वह मृग प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा जाल को तोड कर रचना का उल्लघन कर, बड जाल का बल पूर्वक तोड कर और अग्नि की जटिल ज्वालाओ को भी किसी प्रकार लाघ कर बाहर निकल ही गया। परन्तु म (भाग्य) उसका न ... वह बेचारा शान्ति का श्वास लेन भी न पाया था, इतन म ही एक ओर से सरर करता शिकारी का बाण तीक्ष्ण बाण आया। उसको भी अपने बल बल म उसन निष्फल बना दिया। अब कुदकता, फुदकता आनन्दित होकर आगे बढा परन्तु जहाँ दैव विमुख हो वहाँ शाति कैसी? इन बडे बडे सकटो म छुटकारा पाया हुआ वह हतभाग्य मृग घास स आच्छादित एक भयकर कूप में जा गिरा। आखिरकार उसी कूप म उसक प्राण पखेरू उड गये। सज्जनो! पुरुषार्थ मेरे सामने क्या कर सकता है? मैं सीधा हूँ यहा तक पुरुषार्थ की दाल गलती है। और भी सुनिए—

कैवर्तकर्कशकरग्रहणाच्च्युतोऽपि।
जाले पुनर्निपतितः शफरो वराकः ॥
जालादपि प्रगलितो गलितो बकेन।
वामे विधौ बत कुतो व्यसनान्निवृत्तिः ॥ १ ॥

एक रमनशील मच्छ की भी ऐसी ही दशा हुई। सुनो— वह बेचारा प्रथम तो एक मच्छीमार के कर्कश हाथों से जकडा गया। किन्तु उसन प्रबल प्रयत्न के द्वारा उन हाथों से तो छुटकारा पा लिया। धीवर के कठिन हाथ से छूटा हुआ वह दीन मच्छ अपने आपको न सम्भाल सका और फिर किसी शिकारी क जाल म आ फँसा। अपने कठिन उद्योग से वह मच्छ उस

जाल से भी छूट कर चला तो एक बगुले के खौफनाक पंजे में आ फँसा। फिर भला वह बगुला कब उस दीन प्राणी को छोड़ने वाला था। आखिर उसने अपने स्वभावानुसार कार्य कर ही डाला और उस बेचारे का जीवन नष्ट भ्रष्ट कर दिया। इससे यह सिद्ध होगया कि भाग्य (मेरे) प्रतिकूल हो जाने पर दुःख से छुटकारा कभी भी नहीं हो सकता। मेरे बगैर पुरुषार्थ की सत्ता निर्बल है ऐसा महाभारत में भी निर्णय किया गया है।

> उत्थानं च मनुष्याणां, दक्षाणां दैववर्जितम्।
> अफलं दृश्यते लोके, सम्यगप्युपपादितम्॥

म० भा० सौ० प० अ० २, ११

भावार्थ—दक्ष पुरुषार्थी मनुष्यों के द्वारा सम्यक् प्रकार किया गया प्रयत्न भी यदि दैव रहित होता है तो वही प्रयत्न लोक में निष्फल होता दिखाई देता है।

हे पुरुषार्थवादी! इन उक्त उदाहरणों से तू निश्चय मान कि, जैसी भावी भाव हो वैसा ही बनता है। पुरुष प्रयत्न या मनुष्य की धारणा कुछ काम नहीं आती। "दैवी विचित्रागति" "दैव बलीयसी" इन सिद्धान्तों का अनुमोदन कर। मनुष्य अनाज आदि की फसल को आबाद करने के लिये चाहे जितना प्रयत्न करे परन्तु उसका फल देने की अगर मेरी इच्छा न हो तो मैं कोई न कोई विघ्न पैदा कर दूँ—पाला गिरा कर फसल को जला दूँ, टिड्डियों के समूहों को लाकर फसल खिला दूँ, जब चाहता हो तो तब वर्षा नहीं बरसाऊँ और जब चाहता न हो तब दुगुनी तिगुनी बरसा दूँ, रोग फैला दूँ, इस तरह किसी भी प्रकार से फसल को नष्ट कर देता हूँ। एक मनुष्य कला का विकास करने के लिये या कोई नई खोज करने के लिये अनेक प्रयत्न कर रहा हो तब भी अगर मैं फल देना नहीं चाहता तो

युद्ध में युद्ध जीत डालता हूँ। या तो उसको कारागार कर लेता हूँ, या उत्तेजना देने वाले के मन में अविश्वास या विपरीत भाव पैदा कर देता हूँ या कोई नया ही तूफान मचा देता हूँ, ऐसे किसी भी तरह से उसकी धारणा निष्फल कर देता हूँ। मैं जिसका कर्म हो जाऊँ उसको बिना ही परिश्रम के अचिन्तित फल देता हूँ। लॉटरी, शर्त या सट्टे में अनुकूल दाव मिला दूँ या मकान की नींव खोदते हुए मोहरों का कलश मिलता है। मैं जैसा चाहूँ वैसा कर सकता हूँ। मेरी बराबरी कोई नहीं कर सकता। काल, स्वभाव, उपक्रम, और पुरुषार्थ ये सब परिवर्तित हो जायें परन्तु मैं तो वैसा का वैसा ही हमेशा के लिये स्थिर रहूँगा। व्यावहारिक में मैं मानता हूँ कि, मुझे बनाने वाला पुरुषार्थ ही है परन्तु पहले के बाद तो मैं सर्वथा ही स्वतन्त्र हूँ। फिर तो एक इंच मात्र भी पुरुषार्थ की सत्ता मुझ पर नहीं चलती। अतः पाँचों में श्रेष्ठ पद मुझे ही मिलना चाहिए।

जिस समय पाँचों पक्षकार अपने अपने प्रस्ताव पेश कर चुके उसी समय मन्त्री जी ने पंडित जी के साथ विचार करना प्रारम्भ कर दिया।

मन्त्री—क्यों पंडित जी! इन पाँचों वादियों का कथन आपने ध्यान से सुना?

पंडित जी—जी हाँ, सुना।

मन्त्री—कहिए, आपकी बुद्धि ने सत्यासत्य का निर्णय कहाँ तक किया?

पंडित जी—मन्त्री साहब! एक प्रकार से पाँचों का कथन सत्य है, दूसरी प्रकार से पाँचों का कथन असत्य है।

मन्त्री—यह कैसे?

पंडित जी—ये प्रत्येक दूसरों की सत्ता का उत्थापन कर केवल अपनी ही सत्ता स्थापित करते हैं, इस रीति से प्रत्येक का कथन असत्य है। दूसरे वादियों की जितनी जितनी सत्ता है उतनी स्वीकार करके अपना अहंकार और अविवेक वाद छोड़कर न्यायपुरःसर अपनी सत्ता का स्थापन करें तो उनका कथन सत्य हो सकता है।

मंत्री—ठीक है, एकान्तवाद मिथ्या और अनेकान्तवाद सत्य है। अस्तु, अब प्रत्येक के कथन में कितना उचित है और कितना अनुचित है, इसको विस्तार से बतलाइए।

पंडित जी—किसी भी कार्य का फल प्राप्त करना हो तो अवश्य ही इन पाँचों वादियों की गौणतया या मुख्यतया आवश्यकता पड़ती है, उसका विचार करने के लिये अनेक दृष्टान्त उपस्थित होते हैं, परन्तु उन सब का विचार करने से बहुत विस्तार होने की सम्भावना है अतः किसी विशेष दृष्टान्त को लेकर उस पर विचार करें। जैसे कि, एक विद्यार्थी आज मेट्रिक का अभ्यास करने के लिये मेट्रिक की कक्षा में प्रविष्ट होता है, उसको परीक्षा पास करने का फल प्राप्त करना है। मेट्रिक में प्रविष्ट होने के पहले उसे दूसरे स्कूलों में कमसे कम आठ या नौ वर्ष व्यतीत करने चाहिए अर्थात् पहला छः कक्षाएँ व्यतीत करने में जितना समय लगा उतना काल का बल मिलने के पश्चात् ही मेट्रिक में प्रविष्ट हो सकता है। उससे पहले प्रविष्ट नहीं हो सकता। अतः पहले काल की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि पहले के वर्षों में छः कक्षाएँ व्यतीत करने के लिये प्रयत्न—पुरुषार्थ भी करना पड़ा है, तथापि यहाँ पर काल की गणना में उसकी गौणता होने से वह प्रयत्न काल में ही गिना जाता है।

एक पशुतुल्य, अभ्यास की अरुचिवाले, जड़ और मंदमति

जालक का स्कूल में अभ्यास के लिये उतना काल मिलने पर भी वह मेट्रिक में प्रवेश के योग्य नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि, काल के साथ साथ अभ्यास की रुचि, मन की स्थिरता सभ्यता आदि शिक्षण योग्य स्वभाव की भी जरूरत पड़ती है। स्वभाव के बिना काल व्यर्थ जाता है। कार्य सफल नहीं होता अतः काल की तरह स्वभाव भी योग्यता संपादक है।

स्वभाव से सुशील या स्थिर हो। परन्तु बुद्धि से हो बा हो कक्षाएँ समाप्त कर मेट्रिक में प्रविष्ट होने के योग्य नहीं हो सकता है और अगर जैसे तैसे प्रविष्ट हो भी जाय तो मेट्रिक में विषय प्राप्त नहीं कर सकता, अतः बुद्धि तथा आरोग्य आदि की भी जरूरत पड़ती है और वह शक्ति पूर्वकर्मानुसार प्राप्त होती है। अतः तीसरे नम्बर पर पूर्व कर्म की भी अपेक्षा रहती है। इन तीनों कारणों के योग से विद्यार्थी मेट्रिक की कक्षा में प्रविष्ट होता है तब से मुख्यतया पुरुषार्थ की ही आवश्यकता रहती है। नियत समय पर स्कूल में जाना चाहिये, शिक्षक जितना पाठ पढ़ावें उतना ध्यान से समझना चाहिये, आसन लगा कर स्थिर बैठना चाहिये छुट्टी होने के बाद भी घर जाकर पाठ करना चाहिये, आदि।

अगर इस प्रकार पुरुषार्थ न किया जाय तो पहले के तीनों कारण भी व्यर्थ हो जाते हैं। अतः तीनों कारणों के साथ चौथे पुरुषार्थ की भी आवश्यकता रहती है। इस समय पहले के तीन कारण जब गौणतया कार्य साधन हैं तब पुरुषार्थ मुख्यतया कार्य साधक बनता है।

पुरुषार्थ करते करते भी बीच बीच में विघ्न आते हैं। वे विघ्न दो प्रकार के होते हैं एक प्रकार के तो पुरुषार्थ द्वारा दूर हो सकते हैं और दूसरे प्रकार के विघ्न दूर नहीं हो सकते। अभ्यास करते बीमारी हो गई तो पाठ रुक गया। पुरुषार्थ से डाक्टर या वैद्य हकीम के पास गया, दवाई ली तो आराम हो गया।

किसी निराश्रित विद्यार्थी को अभ्यास के लिये किसी भी श्रीमन्त की तरफ से स्कॉलरशिप या पुस्तक तथा फ़ीस में सहायता मिलता था, वह किसी कारण से बन्द हो गई और अभ्यास छोड़ने का समय आया, परन्तु पुरुषार्थ करने से फिर उसको किसी मनुष्य की सहायता मिली और विघ्न दूर हो गया। इस प्रकार के विघ्न या तो पूर्व कर्म से स्वभावतः हो जाता है परन्तु कदाचित ऐसे अनिश्चित विघ्न* (बाधाएँ) उपस्थित हो जाते कि जो किसी भी प्रयत्न से दूर नहीं हो सकते और अभ्यास छोड़ने का ही अवसर आ जाय अथवा अनुत्तीर्ण होना पड़े ऐसे विघ्नों को हम नियति की कृतिरूप मानेंगे। कार्य की सफलता के लिये अनुकूल नियति की आवश्यकता पड़ती है। उपर्युक्त पाँचों कारण एकत्रित हों तब ही मेट्रिक में प्रविष्ट हुआ विद्यार्थी परीक्षा में सफलता रूप फल की प्राप्ति कर सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में फल सिद्धि प्राप्त करने के लिये इन पाँचों कारणों की आवश्यकता रहती है। यद्यपि कार्य की दृष्टि से प्रत्येक का बलाबल पृथक् होता है, तथापि किसी स्थल पर किसी की प्रधानता रहती है। यहाँ पर विचारना यह है कि, काल अर्थात् सामान्य काल नहीं परन्तु क्रियासिद्धिकाल, वस्तुपरिपाककाल, अथवा कर्मस्थितिविपाककाल समझना। जो क्रिया जितने काल में सिद्ध हो उतने काल को क्रिया सिद्धि काल कह सकते हैं। जैसे एक वस्त्र का निर्माण करने या बरतन का निर्माण करते हुए जितना समय लगा वह क्रियासिद्धि काल कहा जा सकता है। अन्न या फलादिक को पकने पकते जितना समय

* विद्यार्थी परीक्षा देता हुआ अचानक चक्कर खाकर गिर जाय, परीक्षा के दिन ही अचिन्तित या अचानक कोई घटना उपस्थित हो जाय इत्यादि दृष्टान्त ले सकते हैं।

लग यह वस्तु परिपाक काल माना जाता है। परन्तु काल की यह मर्यादा अनियत है। स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ द्वारा वह मर्यादा बदला भी जा सकती है। एक वृक्ष का फल एक देश में १४ दिन में पकता है तो दूसरे देश में वही फल १० दिन में पकता है। देश स्वभाव से जैसे काल की मर्यादा में परिवर्तन हो सकता है वैसे ही जाति स्वभाव में भी परिवर्तन हो सकता है। एक प्रकार का आम का फल नियत समय पर पकता है तब दूसरे प्रकार का फल उसी देश में कम या अधिक समय में पकता है। पुरुषार्थ से जो काल में परिवर्तन होता है वह स्वभाव-वाद के अपने वक्तव्य में बतला दिया है। शुभ या अशुभ कर्म से भी कर्मस्थिति न्यूनाधिक हो सकती है, ऐसा शास्त्र में कहा है, इससे यह मालूम होता है कि, काल का यह घमण्ड कि, 'जब मैं फल दूँ तभी मिले, मेरी मर्यादा अनुल्लंघनीय है' यह बात ठीक नहीं है। काल, स्वभाव आदि संयोगों के आधीन होने से पर तन्त्र है। कोई विद्यार्थी सात साल में मेट्रिक पास हो सकता है और कोई स्वतंत्र (प्राइवेट) रूप से अध्ययन करता हुआ तीन या चार साल में ही मेट्रिक जितना ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसका आधार उद्यम या बुद्धि पर है। अतः काल की मर्यादा उल्लंघित हो सकती है। इतना जरूर है कि कोई भी कार्य साध्य करते हुए अल्प या अधिक काल की जरूरत पड़ती है। काल को नष्ट या मथकर उखाड़ कर फेंक देने से कार्य सिद्ध नहीं होता दूसरी बात यह है कि, काल के साथ वस्तु स्वभाव, प्रारब्ध और पुरुषार्थ मिलकर ही काल कार्य साधक बन सकता है, परन्तु अकेला काल कुछ नहीं कर सकता।

अनियत मर्यादायुक्त काल को कारण मानने का दूसरा हेतु यह भी है कि, उससे मनुष्य धीरज रखने का पाठ सीख सके। अन्यथा एक क्षण में की हुई क्रिया के फल की दूसरे

क्षण में प्राप्ति की आशा रख कर कार्य किया जावगा, परन्तु फल तो दूसरे क्षण में मिलता नहीं, इससे अधीर होकर मनुष्य यह समझता है कि, क्रिया निष्फल है। फल मिला नहीं। ऐसा मान कर कार्य करने से रुक जाय और फल से वंचित रहे, परन्तु काल को कारण समझा जाय तो उनकी अधीरता न रहे। वह ऐसा विचार करता है कि, कालान्तर में फल अवश्य मिलेगा, अत, कार्य करते रहना चाहिए। ऐसा समझ कर मनुष्य धीरज रखता हुआ पुरुषार्थ में तत्पर रहता है। अत काल का कारणता निरुपयोगी नहीं है।

स्वभाव शब्द से वस्तु स्वभाव, देश स्वभाव, क्षेत्र स्वभाव, काल स्वभाव, समाज के संयोग और प्रकृति (कुदरत) के संयोगों का ग्रहण होता है। काल की तरह स्वभाव की मर्यादा का उल्लंघन आसानी से नहीं हो सकता। इतना ही नहीं बल्कि, कई बार प्रारब्ध और पुरुषार्थ भी स्वभाव का अनुसरण कर कार्य करते हैं। जैसे कि, चाहे जैसा प्रारब्ध के बलवाला, पुण्यशाली मनुष्य हो तो भी जिस देश में वह रहता है उस देश की सरदी गरमी या अन्य उपद्रवों की पीडा उसे सहनी पड़ती है। वैसे ही उद्योग भी उस देश के ऋतु स्वभावानुसार ही हो सकता है। अत स्वभाव, एक प्रबल कारण मालूम होता है। तोभी कई एक बातों में पुरुषार्थ से स्वभाव में परिवर्तन हो सकता है। क्रोधी स्वभाव वाला मनुष्य सत्संग से शांत स्वभाव वाला बनजाता है ऐसा हम सब देखते हैं। गरम स्वभाव वाली वस्तु का भिन्न स्वभाव वाली वस्तु के साथ मिश्रण होने से कोई अन्य ही स्वभाव उत्पन्न हो जाता है और नवीन फल देता है। यद्यपि निश्चय दृष्टि में तो जिसका जो स्वभाव है वही रहता है। केवल संयोगवशात् आविर्भाव, तिरोभाव होता है, परन्तु व्यवहार दृष्टि से परिवर्तन मालूम होता है।

प्रारब्ध पूर्वकर्म का सम्बन्ध प्रायः सजीव वस्तुओं के ऊपर ही लागू पड़ता है। निर्जीव वस्तु के विषय में तो वस्तु के पूर्वकालीन संयोग ही उसके पूर्व कर्म हैं। सजीव वस्तु—प्राणी वर्ग को यद्यपि इन्द्रिय ग्राम शरीर, अङ्गोपाङ्ग, गति, जाति संघयण (अवयव सन्धि) संस्थान (आकृति), जीवन और मरण आदि पूर्व कर्मानुसार ही मिलते हैं तो भी कर्मानुसार मिली हुई प्रत्येक शक्ति का विकास करने में पुरुषार्थ की पूर्ण आवश्यकता रहती है। शरीर कर्म योग से मिला, परन्तु यदि खानपान और पालन पोषण रूप पुरुषार्थ न किया जाय तो उसका विकास नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ मिली, परन्तु यदि उनको रागादिक से सुरक्षित रखने का प्रयत्न न किया जाय तो शक्ति का विकास तो दूर रहा किन्तु उलटा शक्ति का नाश हो जाता है। हर एक कर्म निकाचित् नहीं होते जो कि बिना पुरुषार्थ (प्रयत्न) के भी अवश्य फल दें। कई एक कर्मों का उदय संयोगाधीन होता है, कितने ही स्वभावाधीन होता है और कई एक स्थल पर पुरुषार्थ से भी कर्मों का उपशम संक्रमण उद्वर्तन, और अपवर्तन हो सकता है। अतः पूर्व कर्म की मर्यादा भी अनुल्लंघनीय नहीं कही जा सकती।

कितने ही मनुष्य 'जैसा कर्म में लिखा होगा वैसा ही होगा' ऐसा कह कर कर्म को स्वतंत्र कारण मान कर जो भूल करते हैं, उसका वर्णन में अब करता हूँ। कर्म को स्वतंत्र कारण मानने वाले पुरुषार्थ को छोड़ कर आलसी और पुरुषार्थहीन बन जाते हैं। अतः वे स्वकर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं। वे मिली हुई शक्ति और सम्पत्ति को खो बैठते हैं। वैसे ही जो पूर्व कर्म को नितान्त छोड़ देते हैं उस की सत्ता को किसी प्रकार नहीं मानते वे भी बड़ी भूल करते हैं। पूर्व कर्म को मानने वाले जैसे विपत्ति के समय अपनी पूर्वकालीन भूल का परिणाम मान कर सन्तुष्ट

रहते हैं, सुख दुःख में समभावी बनते हैं, वैसे पूर्व कर्म की सत्ता को उड़ाने वाले नहीं रह सकते। उनको आश्वासन देने वाला कोई रहता नहीं जिससे दुःखित होकर आर्तध्यान का अवलम्बन करते हैं। अतः पूर्व कर्म की कारणता भी आवश्यक है। परन्तु वह इतनी मात्रा में होनी चाहिए, जिससे मनुष्य अनुद्यमी—आलसी न बन जाये। पूर्व कर्म की कारणता को पुरुषार्थ के साथ मानने से अधिक लाभ है।

महाभारत में भी प्रारब्ध और पुरुषार्थ की रथ के दो चक्र की तरह अन्योन्य सापेक्षता बतलाई है। देखिये

आबद्धा मानुषा सर्वे, निबद्धा कर्मयोर्द्वयो
दैवे पुरुषकारे च, पर ताभ्यां न विद्यते ॥

म० भा० सौ० प० अ० २।२

कृपाचार्य अश्वत्थामा को कहते हैं कि, सब मनुष्य पूर्व कर्म और पुरुषार्थ इनसे बँधे हुए हैं। इन दो कारणों के सिवाय दूसरा कोई कारण विद्यमान नहीं है।

नहि दैवेन सिध्यन्ति, कार्याण्येकेन सत्तम
न चापि कर्मणैकेन, द्वाभ्या सिद्धिस्तु योगत

म० भा० सौ० प० अ० २।३

हे अश्वत्थामन्! अकेले दैव (पूर्व कर्म) से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती किन्तु कर्म और पुरुषार्थ इन दोनों के योग से ही सिद्धि होती है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

ताभ्यामुभाभ्यां सर्वार्था, निबद्धा अधमोत्तमा।
प्रवृत्ताश्चैव दृश्यन्ते, निवृत्ताश्चैव सर्वश

म० भा० सौ० प० अ० २।४

हे अश्वत्थामन्! उत्तम और अधम सब कार्य इन दो कारणों से प्रवृत्त और निवृत्त होते हुए दिखाई देते हैं।

पर्जन्य पर्वते वर्षन्, किन्नु साधयते फलम्।
कृष्टे क्षेत्रे तथाऽवर्षन् किन्नु साधयते फलम् ॥
सुकृष्टे च यथा क्षेत्रे, सम्यक् क्षेत्रे च कल्पिते।
बीज महागुणं भूया—तथा सिद्धिर्हि मानुषी ॥

म० भा० सौ० प० अ० २ । १ ?

हे अश्वत्थामन्! क्या पर्वत पर बरसने वाली बरसात फल की साधना कर सकती है? वैसे ही जोते हुए खेत में नहीं बरसता हुई बरसात भी क्या फल साध सकता है? नहीं। परन्तु बारिस भी अच्छी तरह बरसे और खेत भी सुष्टु रीत्या जोता हुआ हो तब बोया हुआ बीज महाफल दायक होता है। इसी प्रकार प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों अनुकूल हो तब ही मनुष्य कार्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

हीनं पुरुषकारेण यदि दैवेन वा पुन
कारणाभ्यामथैताभ्या, मुत्थानमफलं भवेत्

म० भा० सौ० प० अ० २।१२

हे अश्वत्थामन्! पुरुषार्थ हीन तथा दैव विहीन अथवा दोनों कारणों से हीन उत्थान-प्रयत्न, निष्फल होता है।

पुरुषार्थ के लिये पुरुषार्थवादी ने पर्याप्त विवेचन कर दिया है जिससे उसमें अधिक विचार की आवश्यकता नहीं है। तो भी उसमें थोड़ा सा निर्णय करना पड़ेगा। यद्यपि पुरुषार्थ को स्वभावादि संयोगों का आश्रय लेना पड़ता है तो भी विजय देने वाला वह एक ही है। निकाचित से अन्य पूर्व कर्मों को भी परिवर्तित कर देता है। रेलवे, तार, टेलीग्राफ, फोनोग्राफ, विविध मशीनें और कारखानों की खोज पुरुषार्थ का आभारी है अर्थात् ये सब वस्तुएँ पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुई हैं। पुरुषार्थ ने ही समुद्र तथा पृथ्वी के नीचे मार्ग कर दिया है और दूर को

वस्तु नजदीक तथा सूक्ष्म वस्तु को स्थूल रूप से दर्शाने की युक्ति खोज निकाली है। जिस प्रजा ने पुरुषार्थ को प्रधान पद दिया है वह प्रजा अर्थ, साम्राज्य और सत्ता पर आधिपत्य किये हुए है। जो प्रजा पुरुषार्थ को विसारती है अथवा उससे दूर रहती है वह दुःख और दरिद्रता में निमग्न हुई देखी जाती है, किं बहुना, पुरुषार्थवादी द्वारा प्रमाण के तौर पर बतलाये हुए भगवान् महावीर स्वामी के वचन ही पुरुषार्थ की प्रधानता स्वीकृत करने के लिये पर्याप्त हैं। पुरुषार्थ केवल निकाचित कर्मों के सामने ही निष्फल होता है इसके सिवाय वह किसी अंश तक स्वतन्त्रता से कार्य साधक होता है।

पाँचवाँ कारण नियति है जो कि, निकाचित बंध वाले कर्मों का समूह रूप है। जो कर्म अवश्य भोगना पड़े, जिसकी स्थिति में या विपाक में कुछ भी परिवर्तन न हो सके, उस कर्म के बन्ध को "निकाचित" बंध कहते हैं। कार्य में और फल प्राप्त करने में विघ्न डालने वाला जो कर्म है, वह "अन्तराय कर्म" कहा जाता है। इस अंतराय के अनिवार्य विपाक को तथा अकस्मात् फल देने वाले कर्म को हम "नियति" स्वरूप मानेंगे। जिस कार्य का फल पुरुषार्थ से विपरीत दिशा में गमन करे और अचिन्तित विघ्न उपस्थित हो जाय उस फल को "नियति' का कार्य मानेंगे। इस प्रकार नियति का कार्य क्षेत्र बहुत मर्यादित है, क्योंकि पुरुषार्थ के विरुद्ध फल देने वाले कृत्य अधिक नहीं होते। कर्मों के खजाने में शिथिलबंध वाले कर्मों की अपेक्षा निकाचित बंध वाले कर्म बहुत ही अल्प होते हैं। नियति का कार्य क्षेत्र स्वल्प है, परन्तु सामर्थ्य अधिक मालूम होती है, क्योंकि वह किसी से बदली नहीं जा सकती, वह स्वभाव को अपना तावेदार बनाता है पुरुषार्थ से भी उलटा चलता है, अपना निर्धारित फल देता है, अतः वह समर्थ माना जा सकता है। परन्तु कई बार मनुष्य

इसकी सामर्थ्य साधन में भूल करते हैं। पुरुषार्थ करते हुए कार्य में थोड़ा विघ्न आया कि, आलसी और सुस्त मनुष्य उस कार्य में नियति—भावी भाव को हेतु समझ कर उस कार्य में पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं। वस्तुतः उनका कथन अयुक्त और भ्रम पूर्ण होता है, क्योंकि बहुत से विघ्न पुरुषार्थ द्वारा दूर किये जाने वाले होते हैं, वे विघ्न नियति की मर्यादा में गये हुए नहीं होते। अतः फलाभिलाषी पुरुषों को नियति की परीक्षा एक बार ही के उद्यम से न करते हुए एक बार फल न मिला तो दूसरी बार-तीसरी बार एवं पुनः पुनः उद्यम करना चाहिए, ऐसा करने पर भी आखिर में किसी तरह फल की प्राप्ति न हो अथवा विरुद्ध फल की प्राप्ति हो तब तो वह कार्य नियति—भावी भाव का है ऐसा मानना, परन्तु प्रथम से ही विपरीत अनुमान करते हुए नियति की मर्यादा बढ़ाकर आलसी न बन जाना चाहिए। नियति की मान्यता मनुष्य को निराश दशा में आश्वासन देकर शान्ति उपजाती है, नियति का समावेश पूर्व कर्म में हो सकता है, परन्तु पूर्व कर्म को जब पुरुषार्थ की सत्ता के आधीन रखते हैं तब नियति का समावेश पूर्व कर्म में नहीं हो सकता क्योंकि वह पुरुषार्थ की सत्ता से बाहर स्वतन्त्र रहता है।

यद्यपि एक कार्य साधन में अनेक वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, उन सब की गणना करें तो अनेक कारण हो सकते हैं, परन्तु इन पाँचों कारणों में उन सबका समावेश हो जाता है। इन पाँचों कारणों का भी संग्रह नय से संक्षेप किया जाय तो काल पुरुषार्थ के प्रयोगों में, नियति पूर्व कर्म में और प्रारब्ध भूतकालीन पुरुषार्थ में मिल जाने से स्वभाव और पुरुषार्थ ये दो ही मुख्य कारण माने जा सकते हैं।

सज्जनो! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार पाँचों कारणों की योग्यता और अयोग्यता का यत्किञ्चित् विचार किया है, इस

पर स मत्यासत्य का निर्णय कर आप इन पाँचों वादियों को इन्साफ देंगे ऐसी आशा रख कर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

मन्त्री—महाराजाधिराज! पडितजी ने जो उपर्युक्त विवेचन किया है वह मुझे यथार्थ मालूम होता है। अब इससे अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, अत इन पाँचों को न्याय सुनाने की कृपा कीजिये।

नरेश—वादियो और सभासदो! काल, स्वभाव, पूर्वकर्म, पुरुषार्थ और नियति इन पाँचों का स्वतन्त्र कारणता के लिये जो अभिमान पूर्ण वक्तव्य है वह मिथ्या है, नियति के सिवाय स्वतन्त्र कारणता किसी की उचित प्रतीत नहीं होती। नियति दूसरों की अपेक्षा कुछ स्वतन्त्र है, परन्तु सपूर्ण नहीं, वस्तु स्वभाव की उसको भी अपेक्षा रहती है। फिर उसका काम जोड़ने के बजाय तोडने का अधिक है। उसका कार्यक्षेत्र भी बहुत परिमित है। अत वादियों के कथनानुसार इनकी स्वतन्त्र कारणता सिद्ध नहीं होती, किन्तु सापेक्ष कारणता सिद्ध होती है। पाँचों वादी साथ मिलकर सुख दु ख, लाभ अलाभ, जीवन मरण आदि में कारणभूत हो सकते हैं, अर्थात् पाँचों का समुदाय (समूह) कारण माना जा सकता है। पाँचों की समान कारणता होने पर भी गौण या मुख्य भाव तो है ही। ऋतु के परिवर्तन आदि कई कार्यों में काल की प्रधान कारणता और दूसरों की गौणता है। स्वभाव की प्राय सब जगह समान कारणता है। जीवन शक्तियाँ, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, इन्द्रिय, प्राण आदि सपत्ति में पूर्व कर्म की प्रधानता है, पुरुषार्थ प्रभृति की गौणता है। शक्तियों का विकास करने में, विद्या, हुनर, कला, विज्ञान, शोध आदि में पुरुषार्थ की प्रधानता और पूर्व कर्म

आदि की गौणता है। अध्यात्म विद्या में नियति की प्रधानता और अन्य की गौणता है। एवं इस प्रकार प्रत्येक वाद को अपने अपने विषय में प्रधानता और अन्य स्थल पर अपनी गौणता स्वीकार करके गर्व और अधिक वाद छोड़ देना चाहिए। तथा परस्पर का सामञ्जस्य स्वीकार करना चाहिए। इत्यलम्। "सुज्ञेषु किं बहुना"

बोलो भगवान् महावीर स्वामी की जय।

(कचहरी मरम्मारा)

